

ISSN-0972-1002

श्रमण ŚRAMAṆA

A Quarterly Research Journal of Parshwanath Vidyapeeth

Vol. LVIII

No. IV

October-December 2007



Pārśwanātha Vidyāpiṭha, Varanasi

पार्श्वनाथ विद्यापीठ, वाराणसी

श्रमण ŚRAMAᅇA

A Quarterly Research Journal of Parshwanath Vidyapeeth

Vol. LVIII

No. IV

October - December 2007

Editor

Hindi Section

Dr. Vijaya Kumar

English Section

Dr. S.P. Pandey

Publisher



Parshwanath Vidyapeeth, Varanasi
*Recognized by Banaras Hindu University
as an external Research Centre*

श्रमणः

पार्श्वनाथ विद्यापीठ की त्रैमासिक शोध-पत्रिका

Śramaṇa: A Quarterly Research Journal of Parshwanath Vidyapeeth

Vol. LVIII

No. IV

October - December 2007

ISSN-0972-1002

Subscription

Annual membership

For Institutions: Rs. 250.00

For Individuals: Rs. 200.00

Per Issue Price: Rs. 50.00

Life Membership

For Institutions: Rs. 1500.00

For Individuals: Rs. 500.00

*Membership fee can be sent in the form of cheque or draft only in the name of **Parshwanath Vidyapeeth***

Published by : Parshwanath Vidyapeeth
I. T. I. Road, Karaundi, Varanasi-221005
Ph. 911-0542-2575521, 2575890
Email : parshwanathvidyapeeth@rediffmail.com
pvri@sify.com

Type Setting by : **Add Vision**
Karaundi, Varanasi-221005

Printed at : Vardhaman Mudranalaya
Bhelupur, Varanasi-221010

Note : The Editor may not be agreed with the views or the facts stated in this Journal by the respected authors.

श्रमण

अक्टूबर-दिसम्बर २००७

विषयसूची

हिन्दी खण्ड

१. बौद्धों का शून्यवाद	साहित्यवाचस्पति डॉ० श्रीरंजन सूरिदेव	१-६
२. मध्यकालीन भारतीय प्रतिमालक्षण	डॉ० मारुति नन्दन प्रसाद तिवारी	७-१५
३. आचारांग में भारतीय कला	डॉ० हरिशंकर पाण्डेय	१६-२२
४. जैन धर्म और ब्रज	डा० एस०पी० सिंह	२३-३१
५. मध्ययुगीन संत-काव्य में जैन न्याय की निक्षेप-पद्धति	साध्वी डॉ० अर्चना	३२-३७
६. जैन दर्शन में प्रत्यभिज्ञान प्रमाण	डॉ० भूपेन्द्र शुक्ल	३८-४२
७. हठयोग एवं जैनयोग में प्रत्याहार का स्वरूप : एक तुलनात्मक अध्ययन	डॉ० राज नारायण सिंह	४३-४६
८. जैन पौथियों में जैनेतर दृश्य	डॉ० शैलेन्द्र कुमार	४७-५१
९. जैन दर्शन एवं श्री अरविन्द के दर्शन में चेतना का स्वरूप : एक तुलनात्मक सर्वेक्षण	डॉ० अवनीश चन्द पाण्डेय	५२-५८

ENGLISH SECTION

10. The contribution of Buddhism to the World of Art & Architecture	Venerable Dr. Rewata Dhamma	61-72
11. Jaina Architecture and Images of Western India under the Western Kṣatrapas	Prof. Rasesh Jamindar	73-83
12. The Concept of Mind (Manas) in Jaina Philosophy	Dr. S. P. Pandey	84-97
13. Jainism in Bengal	Dr. Harihar Singh	98-103
१४. पार्श्वनाथ विद्यापीठ के प्राङ्गण में		१०४-१०७
१५. जैन जगत्		१०८-११२
१६. साहित्य सत्कार		११३-११६
१७. सुरसुन्दरीचरित्रं	श्रीमद्भनेश्वर सूरि	२१९-३२०



हिन्दी खण्ड

- बौद्धों का शून्यवाद साहित्यवाचस्पति डॉ० श्रीरंजन सूरिदेव
- मध्यकालीन भारतीय प्रतिमालक्षण डॉ० मारुति नन्दन प्रसाद तिवारी
- आचारांग में भारतीय कला डॉ० हरिशंकर पाण्डेय
- जैन धर्म और ब्रज डा० एस०पी० सिंह
- मध्ययुगीन संत-काव्य में जैन न्याय की निक्षेप-पद्धति साध्वी डॉ० अर्चना
- जैन दर्शन में प्रत्यभिज्ञान प्रमाण डॉ० भूपेन्द्र शुक्ल
- हठयोग एवं जैनयोग में प्रत्याहार का स्वरूप : एक तुलनात्मक अध्ययन डॉ० राज नारायण सिंह
- जैन पोथियों में जैनेतर दृश्य डॉ० शैलेन्द्र कुमार
- जैन दर्शन एवं श्री अरविन्द के दर्शन में चेतना का स्वरूप : एक तुलनात्मक सर्वेक्षण डॉ० अवनीश चन्द पाण्डेय

बौद्धों का शून्यवाद

साहित्यवाचस्पति डॉ० श्रीरंजन सूरिदेव*

भारतीय दर्शनों में बौद्ध दर्शन ने अपना विशिष्ट महत्त्व आयत किया है। ईसा-पूर्व छठी शती में भगवान् बुद्ध द्वारा बौद्ध धर्म का प्रवर्तन किया गया। बुद्ध के उपदेशों में निहित दार्शनिक विचारों का संकलन और आकलन ही बौद्ध दर्शन के रूप में प्रतिष्ठित हुआ। यह चार्वाक दर्शन की भाँति विशुद्ध नास्तिक दर्शन नहीं है। बौद्धों के लिए बुद्ध ही भगवान् या ईश्वर हैं और बौद्धागम ही बौद्धों के लिए वेद है। इस प्रकार बौद्ध भी प्रकारान्तर से ईश्वर और वेद की सत्ता में विश्वास करते हैं; इसलिए उनका परलोकवादी दर्शन तथाकथित रूप में नास्तिक दर्शन नहीं है। पुराणों में वर्णित दशावतारों में भगवान् बुद्ध भी परिगणित हैं। बुद्ध-निर्वाण के प्रायः डेढ़ सौ वर्षों के अन्तराल में, बुद्ध के अनुयायियों में मतभेद की स्थिति इतनी बढ़ गई कि बौद्ध संघ दो यानों (भागों) में विभक्त हो गया - हीनयान और महायान। हीनयान में परम्परावादी स्थविरों का वर्चस्व था और महायान में सुधारवादी महासांघिकों का। इन दोनों वर्गों की वैचारिकी में मतैक्य नहीं था। दोनों एक-दूसरे के घोर विरोधी थे। स्थविर-संघ परम्परावादी होने के कारण 'हीनयानी' तथा महासांघिक वर्ग प्रगतिशील विचारों के होने के कारण 'महायानी' के नाम से प्रसिद्ध हुए। व्युत्पत्ति के आधार पर 'हीनयान' का अर्थ 'छोटी नौका' और 'महायान' का अर्थ 'बड़ी नौका' है। सम्भवतः स्थविरवादियों को हेय समझने के कारण महासांघिकों द्वारा उन्हें 'हीनयानी' कहा जाने लगा और स्वयं प्रगतिवादी होने के कारण अपने को 'महायानी' कहने लगे हों। वस्तुतः दोनों यान एक ही थे, जिन्हें 'बुद्धयान' कहा जाता था; क्योंकि दोनों ही बुद्ध वचनों के अनुयायी थे। इन दोनों सम्प्रदायों से चार दार्शनिक सम्प्रदाय विकसित हुए - वैभाषिक, सौत्रान्तिक, योगाचार और माध्यमिक। प्रथम दो वैभाषिक एवं सौत्रान्तिक सम्प्रदाय हीनयान से सम्बद्ध थे और द्वितीय दो योगाचार एवं माध्यमिक सम्प्रदाय महायान से। इस प्रकार बौद्ध दर्शन के चार प्रमुख सम्प्रदाय हैं।

सर्वास्तिकवादी वैभाषिक मत के अनुसार, समस्त जागतिक पदार्थ सत्य हैं। सौत्रान्तिक मतानुयायी संसार के बाह्य अस्तित्व को मानते हैं, किन्तु वे उसे अनुमेय स्वीकार करते हैं। वे चित्त और बाह्य पदार्थ दोनों की सत्ता स्वीकार करते हैं, पर विज्ञानवाद के

* ७, भारतीय स्टेट बैंक कॉलोनी, काली मन्दिर मार्ग, हनुमाननगर, कंकड़बाग, पटना

इस कथन को नहीं मानते कि 'विज्ञान ही एकमात्र सत्ता है और वही भ्रान्तिवश बाह्य पदार्थों के समान प्रतीत होता है।' सौत्रान्तिकों का कहना है कि दो पदार्थों में सादृश्य तभी सम्भव है, जब दोनों का अस्तित्व भिन्न-भिन्न हो (तद्भिन्नत्वे सति तद्रतभूयो धर्मवत्त्वं सादृश्यम्)। दोनों पदार्थों को एक मानने पर सादृश्य-ज्ञान नहीं होगा। अतः इससे जागतिक बाह्य वस्तु की पृथक् सत्ता सिद्ध नहीं होती। दूसरे पदार्थों की, समकालिक पृथक्ता की प्रतीति से भी एकता सिद्ध नहीं होती।

'वैभाषिक' नाम इसलिए पड़ा कि इस सम्प्रदाय के अनुयायी 'विभाषा' (टीका) को अन्तिम प्रामाण्य मानते हैं, पर सौत्रान्तिकों का कथन है कि 'विभाषा' मानव रचित होने से दोषपूर्ण हो सकती है। उनके मतानुसार बुद्ध ने अभिधर्म के सिद्धान्तों का सूत्रों या सूत्रान्तों (सुत्त या सुत्तन्त) में उपदेश किया था, इसलिए केवल ये ही प्रमाण हैं और इसीलिए वे बौद्ध 'सौत्रान्तिक' कहलाये। 'सर्वदर्शनसंग्रह' में बताया गया है कि 'सूत्रों का अन्त (रहस्य, लक्ष्य) पूछे जाने पर बुद्ध ने अपने शिष्यों से कहा है कि आप लोग सूत्रों का अन्त पूछते हैं, इसलिए सौत्रान्तिक हो जायें।' (भवन्तश्च सूत्रस्यान्तं पृष्टवन्तः सौत्रान्तिका भवन्तु। ' - सर्वदर्शनसंग्रह)

हीनयान-सम्प्रदाय के ये दोनों मत- वैभाषिक और सौत्रान्तिक- बाह्य पदार्थों की सत्ता स्वीकार करते हैं, पर दोनों के मन्तव्यों में अन्तर यह है कि वैभाषिक पदार्थों का अव्यवहित (अबाधित) प्रत्यक्ष मानता है और सौत्रान्तिक कहते हैं कि संसार के समस्त पदार्थ क्षणभंगुर हैं। अतः प्रत्येक पदार्थ के क्षणिक होने से उसका प्रत्यक्ष होना सर्वथा असम्भव है। इसलिए प्रत्यक्ष के अभाव में अनुमान भी नहीं होगा। किन्तु सौत्रान्तिकों के मन्तव्य का तात्पर्य यह नहीं कि बाह्य वस्तु का प्रत्यक्ष होता ही नहीं, उनका कहना है कि बाह्य वस्तु का प्रत्यक्ष होता है, पर व्यवहित (बाधित) प्रत्यक्ष होता है।

महायानियों के दो सम्प्रदायों में प्रथम योगाचार-सिद्धान्त है और दूसरा माध्यमिक सिद्धान्त। योगाचार को ही विज्ञानवाद कहते हैं, जिसकी उत्पत्ति माध्यमिकों के शून्यवाद के प्रतिवाद-रूप में हुई है। योगाचार-मत के अनुयायी संसार के बाह्य पदार्थों की सत्ता को स्वीकार नहीं करते, किन्तु (विज्ञान) के अस्तित्व में उनका प्रबल विश्वास है। बाह्य जगत् की शून्यता (असत्यता) को समझने के लिए विज्ञानवादी योग का आचरण करते थे, इसलिए इन्हें 'योगाचार' भी कहा जाता है। तृतीय शती के आचार्य मैत्रेयनाथ योगाचार के प्रतिष्ठापक थे।

महायान का दूसरा, माध्यमिक-मत शून्यवाद के नाम से अभिहित किया जाता है। इस मत के अनुयायी न तो तपस्वी जीवन जीना चाहते थे, न ही संसारी जीवन। उन्होंने उक्त दोनों पद्धतियों का परित्याग कर मध्यम-मार्ग का अनुसरण किया।

अतएव, उन्हें 'माध्यमिक' नाम से अभिहित किया गया। चूँकि वे माध्यमिक, शून्य को ही परम तत्त्व मानते हैं, इसलिए उन्हें 'शून्यवादी' भी कहा जाने लगा। शून्यवादियों के मत को ही 'शून्यवाद' कहा जाता है।

जैसा पहले कहा गया, 'शून्यवाद' के अनुसार, शून्य की एकमात्र परम तत्त्व है। शून्यवादी बाह्य सत्ता और अन्तःसत्ता, दोनों में से किसी को भी स्वीकार नहीं करते। उनके मतानुसार, न सत् है, न असत्, न ही सदसत् है और न दोनों से भिन्न है, बल्कि वह इन चारों कोटियों से भिन्न 'अलक्षण' है। प्रसिद्ध बौद्धाचार्य नागार्जुन 'प्रतीत्यसमुत्पाद' (कारण पाकर कार्य की उत्पत्ति या कार्यकारणभाव : 'प्रति इत्यप्राप्य इदमुत्पद्यत इति कारणे सति, तत् प्रतीत्यप्राप्य सतुत्पादः') के विकसित रूप को 'शून्यवाद' कहते हैं। उनके अनुसार, यह 'प्रतीत्यसमुत्पाद' ही 'शून्यवाद' है और इसे ही 'माध्यमिक-मत' कहा जाता है :

यः प्रतीत्यसमुत्पादः शून्यतां तं प्रचक्ष्महे।

सा प्रज्ञप्तिरुपादाय प्रतिपत् सैव मध्यमा।।^३

द्वितीय शती के बौद्ध आचार्य नागार्जुन ही शून्यवाद के प्रतिष्ठापक हैं। यद्यपि प्राचीन बौद्ध आम्नाय में शून्य पर विचार उपलब्ध होता है, तथापि उसका शास्त्रीय या सैद्धान्तिक रूप में प्रतिष्ठापन आचार्य नागार्जुन के द्वारा ही हुआ है। इनका जन्म एक दक्षिणात्य ब्राह्मण-परिवार में हुआ था। बौद्धधर्म में दीक्षित होने के बाद यह श्रीपर्वत पर रहने लगे थे।

नागार्जुन की दार्शनिक प्रतिभा विलक्षण थी। इन्होंने शून्यवाद का वैदुष्य-मण्डित तथ्यपूर्ण विवेचन किया है। इनकी शिखरस्थ रचना 'माध्यमिक कारिका' है, जिसे 'माध्यमिकशास्त्र' भी कहते हैं। इसमें शून्यवाद को कुल सत्ताईस प्रकरणों में पल्लवित किया गया है। इसके अतिरिक्त 'प्रज्ञापारमिताशास्त्र', 'शून्यसप्तति', 'युक्तिषष्टिका', 'विग्रहव्यावर्तिनी' आदि इनकी प्रमुख दार्शनिक रचनाएँ हैं। ये बौद्ध धर्म-दर्शन के शलाकापुरुष थे, साथ ही धातुशिल्प और रसायनशास्त्र के विशेषज्ञ भी थे। तृतीय शती के धुरन्धर बौद्ध आर्यदेव, इन्हीं नागार्जुन के शिष्य थे, जिन्होंने आस्तिक और नास्तिक, सभी दर्शनों का गम्भीर अध्ययन किया था। 'चतुःशतक', 'चित्तविशुद्धिप्रकरण' एवं 'हस्तबालप्रकरण' इनके प्रमुख ग्रन्थ हैं।

स्थविर बुद्धिपालित (पाँचवीं शती) बौद्ध दर्शन के प्रामाणिक आचार्य हैं। इन्होंने नागार्जुन की 'माध्यमिक कारिका' पर 'प्रज्ञाप्रदीप' नामक व्याख्या लिखी है। आठवीं शती के आचार्य शान्तिरक्षित शून्यवादी आचार्यों की परम्परा में पाँकेय थे।

इन्होंने 'तत्त्वसंग्रह' तथा 'माध्यमिकालंकारकारिका' नाम के दो पार्यन्तिक बौद्धशास्त्रीय ग्रन्थों का प्रणयन किया है।

शून्यवाद : मायावाद

महायान-सम्प्रदाय का शून्यवाद आचार्य शंकर के मायावाद का समीपी है। जिस प्रकार आचार्य शंकर 'माया' को सत् और असत् से विलक्षण एवं अनिर्वचनीय कहते हैं, उसी प्रकार शून्यवादी माध्यमिक भी 'शून्य' को सत् और असत् से विलक्षण एवं अनिर्वचनीय कहते हैं। वेदान्त की माया के समान शून्य भी अज्ञान-रूप है। इसी अज्ञान या अविद्या के कारण यह जगत् सत् जैसा प्रतिभासित होता है। शंकर के अनुसार, वस्तुतः यह-जगत् मिथ्या है, केवल ब्रह्म ही सत्य है। ('ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या')। शून्यवादी माध्यमिक भी इसी प्रकार जगत् को शून्य (असत्) और शून्य को परमार्थ सत्य मानते हैं। ब्रह्म और शून्य एक ही तत्त्व हैं। 'महोपनिषद्' और 'योगस्वरोदय' में भी ब्रह्म को शून्य कहा गया है ('शून्य तु सच्चिदानन्द निःशब्दब्रह्म शब्दितम्')।

शून्यवादी माध्यमिक आचार्य सत्य के दो रूप - 'संवृतिसत्य' और 'परमार्थसत्य' स्वीकार करते हैं। संवृतिसत्य व्यावहारिक या लौकिक सत्य होता है। संवृति, का अर्थ अज्ञान या अविद्या है। यह सब पदार्थों को आवृत-आच्छादित करता है, इसलिए इसे 'संवृति' कहते हैं ('समन्ताद् वरणं संवृतिः। अज्ञानं समन्तात् सर्वपदार्थतत्त्ववच्छादनात् संवृतिरिच्युते', माध्यमिककारिकावृत्ति)।

सांसारिक दृष्टि से यह संवृति भी दो प्रकार की होती है - तथ्यसंवृति और मिथ्यासंवृति। जब निर्दोष या निर्मल इन्द्रियों द्वारा जागतिक पदार्थों को प्रत्यक्ष ज्ञान की वस्तु बनाया जाता है, तब उसे 'तथ्यसंवृति' कहते हैं, अर्थात् जिसे व्यावहारिक दृष्टि से सत्य कहा जाता है और जब दोषपूर्ण इन्द्रियों द्वारा किसी पदार्थ का प्रत्यक्ष ज्ञान किया जाता है, तब उसे व्यावहारिक दृष्टि से 'मिथ्यासंवृति' कहा जाता है।

त्रिकालसत्य या त्रिकालाबाधित होने के कारण शून्य तथा निर्वाण को परमार्थ-रूप कहा गया है। समस्त धर्मों की निःस्वार्थता को 'परमार्थसत्य' कहते हैं। इसे ही शून्यता, तथ्यता, भूतकोटि और धर्मधातु भी कहते हैं : 'सर्वधर्माणां निःस्वभावता, शून्यता, तथ्यता, भूतकोटिः, धर्मधातु रिति पर्यायाः।'^{१२} इसे वाणी द्वारा व्यक्त नहीं किया जा सकता और न इसे चित्त द्वारा ही गोचर किया जा सकता है, यहाँ तक कि वर्णमाला के अक्षरों द्वारा या शब्दों के माध्यम से भी इसे अभिव्यक्त नहीं किया जा सकता। यह 'वाङ्मनसगोचर' है, शब्दातीत है।^{१३} इसे हम न तो शून्य कह सकते हैं, न

ही अशून्य। पुनः इसे हम दोनों भी नहीं कह सकते हैं और न दोनों में से एक ही कह सकते हैं। इसे केवल संकेत के लिए शून्य कहा जाता है—

शून्यमिति न वक्तव्यमशून्य इति वा भवेत्।
उभयं नोभयं चेति प्रज्ञप्त्यर्थं तु कथ्यते।।

यह परमार्थसत्य न भावरूप है, न अभावरूप, न दोनों प्रकार का है, न दोनों से भिन्न है। यह इन चारों कोटियों से विरहित शून्यरूप है : 'अस्ति-नास्ति-उभय-अनुभय इति चतुष्कोटिविनिर्मुक्तं शून्यत्वम्।' (सर्वदर्शनसंग्रह) संसार में भावों का अस्तित्व मिथ्या है। असत् है। केवल व्यावहारिक दृष्टि से ही परमार्थ का उपदेश किया जा सकता है। नागार्जुन ने कहा है कि व्यवहार के आश्रय के बिना परमार्थ का उपदेश नहीं किया जा सकता और परमार्थ की प्राप्ति के बिना निर्वाण-लाभ सम्भव नहीं है—

व्यवहारमनाश्रित्य परमार्थो न देश्यते।
परमार्थमनागम्य निर्वाणं नाधिगम्यते।।^५

ज्ञातव्य है, निर्वाण ही बौद्धों का चरम लक्ष्य है। निर्वाण प्राप्त होने पर उपदेश की आवश्यकता नहीं रहती। इस शून्य-रूप निर्वाण का अनुभव योगियों को ही होता है। इसी निर्वाण या मुक्ति को ध्यान में रखकर ही गीता में कृष्ण ने अर्जुन से कहा है — 'तस्माद् योगी भवार्जुन।'^६

छठी शती के बौद्ध दार्शनिक चन्द्रकीर्ति दक्षिण भारतीय थे। इन्हें माध्यमिक सम्प्रदाय का प्रसिद्ध विद्वान् माना जाता है। इन्होंने स्थविर बुद्धिपालित के शिष्य कमलबुद्धि से शून्यवाद की शिक्षा प्राप्त की थी। ये बिहार के नालन्दा विश्वविद्यालय के शिक्ष थे। 'माध्यमिकावतार', 'प्रसन्नपदा' और 'चतुःशतकव्याख्या' इनके प्रमुख ग्रन्थ हैं। ये कहते हैं, शून्यता भाव या अभाव-दृष्टि नहीं है। शून्यता एक महती विद्या है। भाव-अभाव-दृष्टियों का निषेध कर यदि शून्यता 'मध्यमा प्रतिपत्ति' (पालि : 'मज्झिमा पडिपदा') से ग्रहण किया जाय, तो वह अवश्य ही साधक को निरूपाधिशेष निर्वाण से जोड़ती है। वस्तुतः शून्यवाद अभावात्मक नहीं, प्रत्युत शून्यता का अर्थ प्रतीत्यसमुत्पाद है।^६

इस प्रकार, शून्यता ही मध्यमा प्रतिपत्त है। जिसकी स्वभावेन अनुत्पत्ति है, उसका अस्तित्व नहीं है और फिर स्वभावेन अनुत्पन्न का नास्तित्व भी नहीं है। इस प्रकार, जो भाव-अभाव, इन दो अन्तों से रहित और अनुत्पत्ति-लक्षण है, वही मध्यमा प्रतिपत्त (मध्यम मार्ग) है, वही शून्यता है। फलतः प्रतीत्यसमुत्पाद की ही

६ : श्रमण, वर्ष ५८, अंक ४/अक्टूबर-दिसम्बर २००७

शून्यता, उपादाय-प्रज्ञप्ति, मध्यमा प्रतिपत् आदि संज्ञाएँ हैं।^{१०} 'माध्यमिककारिका' में नागार्जुन कहते हैं :

यः प्रतीत्यसमुत्पादः शून्यतां तां प्रचक्षते।
सा प्रज्ञप्तिरुपादाय प्रतिपत्सैव मध्यमा।।

इस कारिका का आशय यह है कि नागार्जुन प्रतीत्यसमुत्पाद के विकसित रूप को शून्यवाद के नाम से अभिहित करते हैं। उनके अनुसार यह प्रतीत्यसमुत्पाद ही 'शून्यवाद' है और यही 'माध्यमिक-मत' भी कहा जाता है, जो बौद्ध दर्शन का महत्त्वपूर्ण अंग है।

सन्दर्भ :

१. माध्यमिक कारिका, २४.१८
२. बोधिचर्यावतार, पृ० ३५४
३. माध्यमिक कारिका, १८.७
४. वही, २४.१०
५. श्रीमद्भगवद्गीता, ६.४६
६. विशेष द्र० : आचार्य नरेन्द्रदेव, बौद्ध धर्म-दर्शन
७. माध्यमिक कारिका, २४.१८



मध्यकालीन भारतीय प्रतिमालक्षण

डॉ० मारुति नन्दन प्रसाद तिवारी*

प्रतिमालक्षण का अध्ययन किसी देश और काल के धार्मिक इतिहास और सामाजिक-धार्मिक स्तर पर लोगों के मध्य के पारस्परिक सौहार्द एवं कटुतापूर्ण सम्बन्धों के विशद एवं प्रत्यक्ष जानकारी की दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। मध्यकाल की परिवर्तित क्षेत्रीय राजनीतिक एवं सांस्कृतिक परिस्थितियों और सोच में इस अध्ययन की प्रासंगिकता और भी बढ़ जाती है। क्षेत्रीय राजवंशों के अभ्युदय और राजनीतिक स्तर पर छोटे-छोटे क्षेत्रों में सत्ता-विभाजन तथा क्षेत्र-विस्तार के लिए उनमें निरन्तर होने वाले युद्धों, समझौतों एवं षड्यंत्रों के कारण क्षेत्रीय सांस्कृतिक चेतना और विशिष्टता का भाव भी क्रमशः बढ़ता गया। धर्म और उससे सम्बन्धित देवता तथा उनके स्वरूप एवं लक्षण समकालीन समाज की सोच और आवश्यकता से निर्दिष्ट और वस्तुतः उसी की मूर्त अभिव्यक्ति रहे हैं। अतः परिवर्तित क्षेत्रीय सांस्कृतिक चेतना के कारण देव-स्वरूपों और उनकी मूर्तियों का आधार विषय-वस्तु एवं लक्षण की दृष्टि से और भी व्यापक हो गया। विभिन्न सम्प्रदायों के अभ्युदय तथा उनकी पारस्परिक श्रेष्ठता की सोच के कारण उनमें कटुता का भाव भी प्रकट हुआ, जिसके शमन और समाधान हेतु धार्मिक सामञ्जस्य और समरसता दर्शाने वाली अद्वय या संघात मूर्तियों का लगभग सभी क्षेत्रों में अनेकत्र उत्कीर्णन हुआ।

७ वीं से १३ वीं शती ई० के मध्य विभिन्न क्षेत्रों में बड़ी संख्या में मन्दिरों का निर्माण हुआ। मन्दिरों के विभिन्न भागों पर उकेरी गई असंख्य देव-मूर्तियों में अभिव्यक्त लक्षणपरक भेद और उनकी विविधता के अध्ययन की दृष्टि से मध्यकाल विशेष समृद्ध रहा है। मध्यकालीन प्रतिमालक्षण की विशिष्टताओं की चर्चा के पूर्व तत्कालीन राजनीतिक एवं सांस्कृतिक पृष्ठभूमि का संक्षिप्त उल्लेख यहाँ प्रासंगिक प्रतीत होता है।

गुप्तकाल के बाद लगभग ६०० से १००० ई० के मध्य का काल कई दृष्टियों से उपलब्धियों और विकास का माना जाता है, किन्तु राजनीतिक दृष्टि से क्षेत्रीय शक्तियों के अभ्युदय और उनमें निरन्तर होने वाले आपसी संघर्षों के कारण इसे राष्ट्रीय विघटन का काल भी कहा जाता है। हर्षवर्धन की मृत्यु (लगभग ६४६ ई०) के बाद मौर्य और गुप्त राजवंशों के समान किसी सामर्थ्यशाली केन्द्रीय शक्ति के अभाव में

* आचार्य एवं अध्यक्ष, कला इतिहास विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

विघटन की प्रक्रिया प्रारम्भ हुई, जो क्रमशः प्रखर होती गयी। आठवीं से दसवीं शती ई० के मध्य पाल, प्रतिहार, पल्लव, चालुक्य, राष्ट्रकूट एवं कार्कोट प्रमुख राजनीतिक शक्तियाँ थीं। १००० ई० के अन्त में उत्तर भारत में राजनीतिक दृष्टि से कोई भी ऐसी शक्ति नहीं रही, जो भारत को एकता के सूत्र में आबद्ध रख सकती। दिल्ली के तोमर, राजस्थान के चाहमान या चौहान (९७३-११९२ ई०), मालवा के परमार (१० वीं शती से १२५६ ई०), वाराणसी और कन्नौज के गहड़वाल (१०७५-११९३ई०), गुजरात के चोलुक्य या सोलंकी (९७४-१२१३८ ई०), जेजाकभुक्ति के चन्देल (९वीं शती-१२०० ई०), कल्चुरी या चेदि (८७५-११९५ई०) तथा कई अन्य छोटे-छोटे राजवंशों की उत्तर भारत में स्थापना हुई, जो देशहित की अपेक्षा निजी सत्ता और राज्य विस्तार में संलग्न रहे। इनमें प्रतिहार, कल्चुरी, चन्देल, परमार और सोलंकी विशेष शक्तिशाली राजवंश थे। इसी प्रकार पूर्वी भारत में पाल, सेन, चन्द्र, वर्मन और गंगा वंशों के शासक आपस में संघर्षरत थे। उत्तर भारत के समान दक्षिण भारत में भी पल्लव, चालुक्य और राष्ट्रकूट जैसे महान राजवंशों के बीच संघर्ष का क्रम चलता रहा। उल्लेखनीय है कि संघर्षों के बाद भी कला और संस्कृति का उन्नयन होता रहा, जिसका प्रतिफल महाबलिपुरम् (मामल्लपुरम्), काँचीपुरम्, बादामी, अयहोल, पट्टडकल तथा एलोरा के मन्दिरों और उन पर उत्कीर्ण मूर्तियों के रूप में द्रष्टव्य है। इन राजवंशों के पतन के बाद पश्चिमी चालुक्य (९७३-११८९ई०) चोल (८५०-१२६७ई०), यादव (११९०-१२९४ ई०), काकतीय (लगभग ११९७-१३२३ई०), पूर्वी चालुक्य (६३०-९७०ई०), पाण्ड्य (११९०-१३३०ई०) तथा होयसल (लगभग ११००-१२९१ ई०) जैसे स्वतन्त्र राजवंशों का उदय हुआ।

वास्तुकला, मूर्तिकला एवं प्रतिमालक्षण की दृष्टि से भी मध्य युग बहु-आयामी विकास का युग रहा है। पूर्वकालीन भारतीय कला की समृद्ध परम्परा मध्यकाल में एक विराट आयाम तथा क्षेत्रीय विशिष्टताओं की दृष्टि से उत्कर्ष की अवस्था में पहुँच गयी थी। ७ वीं से १३ वीं शती ई० के मध्य भारत के विभिन्न क्षेत्रों में जिन प्रसिद्ध मन्दिरों और उनके विभिन्न भागों पर प्रभूत देवमूर्तियों का रूपायन हुआ, उनमें कश्मीर का मार्तण्ड, ओसिया और ग्यारसपुर के प्रतिहार, भुवनेश्वर तथा कोणार्क के सोम और गंगवंशी, खजुराहों के चन्देल, कान्चीपुरम् के पल्लव, बादामी, अयहोल और पट्टडकल के चालुक्य, एलोरा के राष्ट्रकूट, तंजौर एवं गंगकोण्डचोलपुरम् के चोल, मोढ़ेरा, आबू तथा सोमनाथ के सोलंकी, हलेबिड, बेलूर, अमृतापुर तथा सोमनाथपुर के होयसल मन्दिर सर्वप्रमुख हैं। नालन्दा, राजगीर, कुर्किहार, खिचिंग, रत्नगिरि, दिनाजपुर, विक्रमपुर, नियामतपुर, पहाड़पुर एवं मयूरभंज तथा बिहार, बंगाल, उड़ीसा और बंगलादेश के अन्य कई स्थलों से बौद्ध प्रतिमाओं के विपुल प्रमाण मिले हैं।

परमात्मा या परमतत्त्व वास्तव में निर्गुण और निराकार होता है। विष्णुधर्मोत्तर में प्रकृति और विकृति इसके दो स्वभाव बताये गये हैं। प्रकृति जहाँ सर्वव्याप्त, विराट, रूपहीन और अलक्ष्य है, वही विकृति में ईश्वर स्वयं अनेक साकार रूपों में अभिव्यक्त होता है। वैदिक परम्परा के 'रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव' (ऋग्वेद, ६.४७.१८), 'एकोऽहं बहुस्याम' और 'एकं सद् विप्राः बहुधा वदन्ति' (ऋग्वेद, १.१६४.४६) जैसे शाश्वत् वाक्यों में यही भाव निहित है। बौद्ध एवं जैन परम्पराओं में भी बुद्ध एवं तीर्थकरों की प्रतिमाओं को क्रमशः अव्यक्त या शून्य की अभिव्यक्ति माना गया है। तीर्थकर मूर्तियाँ वीतरागी जिनों के त्याग और साधना का मूर्त रूप होती हैं। इस प्रकार भारतीय प्रतिमाओं में व्यक्त और अव्यक्त तथा रूप और अरूप दोनों का अद्भुत समन्वय निहित है। पंचानन शिव के पाँच मुख, प्रकृति के पाँच मूलतत्त्वों, चतुष्पाद शिव सकल और निष्कल स्वरूपों, ब्रह्म के चार मुख चार वेदों या ऋचाओं तथा दिशाओं और वैकुण्ठ विष्णु के चार मुख चतुर्व्युह (वासुदेव, संकर्षण, प्रद्युम्न और अनिरुद्ध) के सूचक हैं। इसी प्रकार अर्धनारीश्वर और हरिहर मूर्तियाँ क्रमशः प्रकृति और पुरुष तथा शैव एवं वैष्णव तत्त्वों का समन्वय दर्शाती हैं। विश्वरूप विष्णु, महिषमर्दिनी तथा सप्तमातृका मूर्तियों की परिकल्पना में विभिन्न देव तत्त्वों एवं उनके शक्ति समुच्चय की अवधारणा की अभिव्यक्ति हुई है। देव स्वरूपों की अवधारणा और उनकी मूर्त अभिव्यक्ति में उनके हाथों, आयुधों, वाहनों एवं पार्श्व-देवताओं के माध्यम से देवताओं की प्रकृति और गुण स्वरूप को अभिव्यक्त किया गया है, जो समाज के समकालीन चिन्तन और आवश्यकताओं की प्रतिच्छवि को प्रस्तुत करती हैं।

भारतीय संस्कृति त्याग, साधना और चिन्तन की संस्कृति रही है। सम्भवतः इसी कारण ब्राह्मण परम्परा में पितामह के रूप में ब्रह्मा के अतिरिक्त विष्णु और शिव के योगनारायण एवं दक्षिणामूर्ति स्वरूपों की कल्पना की गयी और शिव को जितकाम तथा महायोगी कहा गया। श्रमण परम्परा में बुद्ध और जैन तीर्थकरों के लक्षणों में भी उनके ध्यान, कायोत्सर्ग और धर्मचक्र-प्रवर्तन मुद्राओं तथा तीर्थकरों के दिगम्बरत्व में त्याग और साधना की सर्वोच्चता का भाव निहित है। ९ वीं से १२वीं शती ई० के मध्य इस भाव के आश्रित ऋषभ पुत्र बाहुबली और भरत चक्रवर्ती को भी उनकी गहन साधना और राज्यलिप्सा के त्याग के फलस्वरूप जैन देवकुल में तीर्थकरों के समकक्ष प्रतिष्ठापरक स्थान दिया गया, जिसके मूर्त उदाहरण हमें देवगढ़, एलोरा, खजुराहो तथा कई अन्य स्थलों से मिलते हैं। ज्ञातव्य है कि श्रवणवेलगोल (कर्नाटक) स्थित बाहुबली गोम्मटेश्वर की ५८ फीट ऊंची एकाश्मक पत्थर में उकेरी प्रतिमा (९८३ई०) प्राचीन भारत की विशालतम धार्मिक मूर्ति है। यह प्रतिमा अप्रतिम साधना के प्रतीक बाहुबली के प्रति असीम श्रद्धा की साक्षी है। वस्तुतः सगुण उपासना या भक्ति की सहज अभिव्यक्ति के रूप में उपासक ईश्वर (या आराध्यदेव) को प्रतिमाओं

के रूप में अपने मनोनुकूल रूपायित करके अपने सुख-दुःख और अपनी अपेक्षाओं को विनम्र भाव और संरक्षण की इच्छा से देवता के समक्ष प्रस्तुत करता है। साधना या निर्गुण उपासना तथा आत्मशुद्धि या बौद्ध धर्म के आत्मदीप होने का मार्ग दुरूह होने के कारण ही सभी धर्मों में भक्ति और उसकी अभिव्यक्ति के साधन के रूप में प्रतिमाओं के निर्माण को पूरी तौर पर स्वीकृति मिली। इस प्रकार प्रतिमायें धर्म और जीवन दोनों से जुड़ी हैं।

मध्यकाल में अपार संख्या में देवमूर्तियों का क्षेत्रीय विविधताओं एवं लक्षण आधिक्य के साथ निरूपण हुआ। मध्यकाल में देव-प्रतिमाओं का निर्माण इतने विशाल स्तर पर हुआ है कि उनके समुचित और सांगोपांग अध्ययन के लिये शास्त्रीय विधान एवं स्थानीय तथा क्षेत्रीय लिखित और अलिखित परम्पराओं तथा मूर्त उदाहरणों का तुलनात्मक अध्ययन और उनमें होने वाले कालगत एवं क्षेत्रीय विकास का निरूपण अत्यन्त दुरूह कार्य है। ब्राह्मण देव-प्रतिमाओं के लक्षणों की दृष्टि से विभिन्न पुराणों, काश्यप शिल्प, समरांगणसूत्रधार, अपराजितपृच्छा, मानसोल्लास, रूपमण्डन, श्रीतत्त्वनिधि तथा दक्षिण भारत के आगम ग्रन्थों का विशेष महत्त्व है। साधनमाला एवं निष्यन्नयोगावली बौद्ध तथा निर्वाणकलिका, प्रतिष्ठासारसंग्रह, प्रतिष्ठासारोद्धार, त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित्र, आचारदिनकर एवं महापुराण जैन प्रतिमाओं के अध्ययन की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण शिल्पशास्त्रीय सामग्री प्रस्तुत करते हैं। इन आधार शास्त्रीय ग्रन्थों के सन्दर्भ में एक महत्त्वपूर्ण ध्यातव्य बात यह है कि इनमें अधिकांश १२ वीं-१३ वीं शती ई० या उसके बाद की कृतियाँ हैं, जिनमें पूर्व की शिल्पशास्त्रीय परम्पराएँ भी संरक्षित हैं। शिल्पशास्त्रीय ग्रन्थों की सीमित उपलब्धता एवं उनकी काल-सीमा की पृष्ठभूमि में मध्यकाल में ओसिया, भुवनेश्वर, हिंगलाजगढ़, राजगिर, नालन्दा, कुर्किहार, खजुराहो, एलोरा, मोढ़ेरा, बादामी, अयहोल, पट्टडकल, देलवाड़ा, कुम्भारिया, हलेबिड, अमृतापुर, तन्जौर जैसे पुरास्थलों पर पाँच सौ से हजार या उसे अधिक देवमूर्तियों का रूपायन और उनमें स्वरूप तथा लक्षणों के स्तर पर मिलने वाली विविधता स्पष्टतः विभिन्न क्षेत्रीय स्थानीय परम्पराओं के व्यवहार तथा शास्त्रीय मर्यादा के अन्तर्गत शिल्पियों द्वारा नूतन प्रयोगों की सम्भावनाओं को उजागर करती हैं। कभी-कभी एकरसता के परिहार के लिए भी विवरणों और लक्षणों में ऐसे परिवर्तन आवश्यक रहे होंगे।

जैन पुरास्थलों पर बाहुबली और भरत चक्रवर्ती के साथ सिंहासन, चामरधारी सेवक, प्रभामण्डल और कभी-कभी यक्ष-यक्षी का उकेरन हुआ है, जो शास्त्रीय दृष्टि से तीर्थंकर मूर्तियों की विशेषताएँ रही हैं। ऐसे अभिनव प्रयोग आचार्यों एवं शिल्पियों ने भरत एवं बाहुबली की प्रतिष्ठा में वृद्धि के उद्देश्य से किये हैं, जो शास्त्रीय नहीं हैं।

किन्तु साथ ही शास्त्र विरुद्ध भी नहीं है। ऐसी मूर्तियाँ मुख्यतः देवगढ़, एलोरा, खजुराहो एवं बिल्हरी से मिली हैं। शिव-पार्वती विवाह से सम्बन्धित कल्याणसुन्दर (पार्वती-परिणय) मूर्तियों में उनके पुत्र गणेश-कार्तिकेय की आकृतियों (भारत कलाभवन, वाराणसी) का उकेरन और मोढरा की नटेश मूर्ति में पार्श्वों में चतुर्भुज ब्रह्मा और विष्णु की दुन्दुभिवादन करती आकृतियाँ भी प्रतिमालक्षण की दृष्टि से विलक्षण हैं।

मध्यकालीन प्रतिमालक्षण अत्यन्त जटिल था, जिसमें आंचलिक और जनजातीय तत्त्वों की प्रधानता भी स्पष्ट है, जिसका एक विलक्षण उदाहरण विलासपुर के ताला गाँव से प्राप्त शिव की महाप्रमाण (९ फीट ऊँची) स्थानक मूर्ति (१०वीं-११वीं शती ई०) है। इस मूर्ति में द्विभुज देवता के शरीर पर नौ मुखों का अंकन हुआ है, जिनमें मानव (बालरूप), कपि और सिंह मुख भी हैं। आंचलिक या जनजातीय परम्परा की संवाहक प्रस्तुत मूर्ति में ऊर्ध्वलिंग और उग्र स्वरूप वाले शिव के शारीरिक अवयवों के निर्माण में सर्प, वृश्चिक, कर्क, मकर, मत्स्य, मयूर जैसे जीव-जन्तुओं का उकेरन ध्यातव्य है, जो शिव के पशुपति रूप की अवधारणा के अनुरूप है।

मध्यकाल में राजनीतिक-सामाजिक स्तर पर आपसी संघर्ष तथा भीतर और बाहर की चुनौतियों एवं निरन्तर होने वाले विदेशी आक्रमणों की विषम परिस्थितियों में आक्रामक (या संहारक) और प्रतिरोधक (या प्रतिरक्षात्मक) क्षमता वाले देव स्वरूपों की तीनों प्रमुख धर्मों (ब्राह्मण, बौद्ध, जैन) में बहुतायत में कल्पना की गई। ऐसे देव स्वरूपों के रूपायन और पूजन के पीछे स्वयं की रक्षा और साथ ही सामर्थ्य में वृद्धि का मनोवैज्ञानिक भाव भी निहित था। कई हाथों वाले देवताओं को युद्ध से सम्बन्धित विभिन्न संहारक आयुधों (त्रिशूल, चक्र, खड्ग, खेटक, धनुष, बाण, शूल, वज्र, छुरिका, परशु) से सज्जत कर निरूपित किया गया है। देवता की शक्ति में वृद्धि के उद्देश्य से उनके हाथों की संख्या में भी वृद्धि की गई और मूर्तियाँ सामान्यतया चार से चौंसठ (खजुराहों की नरसिंह मूर्ति) हाथों वाली बनने लगी। विष्णु, शिव, शक्ति, कार्तिकेय एवं बौद्ध कला में वज्रयान से सम्बन्धित देवी-देवताओं (मारीची, पर्णशबरी, त्रैलोक्यविजय, अवलोकितेश्वर, वज्र-हुंकार, तारा, हेवज्र, हेरुक) तथा जैन कला में चक्रेश्वरी, अम्बिका, पद्मावती, ज्वलामालिनी जैसी यक्षियों और रोहिणी, अप्रतिचक्रा, वैरोट्या, अच्छुप्ता, महामानसी जैसी महाविद्याओं के स्वरूपों और शिल्पांकन में तत्कालीन परिस्थितियों का प्रभाव स्पष्टतः देखा जा सकता है। विष्णु के वराह या नरसिंह स्वरूप सभी क्षेत्रों में सर्वाधिक लोकप्रिय थे। इसी प्रकार शिव के त्रिपुरान्तक, अंधकारि, गजान्तक तथा शक्ति के महिषमर्दिनी और चामुण्डा स्वरूपों की मूर्तियाँ सर्वाधिक संख्या में बनीं। मध्यकाल में इन्हीं स्वरूपों में सर्वाधिक लक्षणपरक वैविध्य भी दिखाई देता है। दक्षिण की तुलना में उत्तर भारत में विदेशी चुनौतियों की

अधिक विकट स्थिति थी और सम्भवतः इसी कारण उत्तर भारत में ऐसे देवस्वरूपों की तुलनात्मक दृष्टि से अधिक मूर्तियाँ बनी और उनमें देवताओं की उग्रता और संहारक शक्ति की अभिव्यक्ति भी आयुधों एवं शारीरिक चेष्टाओं के स्तर पर अधिक प्रखर है। कुछ मूर्ति स्वरूपों में मध्यकालीन भारतीय समाज के सामूहिक शक्ति चिन्तन के भाव भी व्यक्त हुए हैं, जिनमें महिषमर्दिनी और त्रिपुरान्तक स्वरूप मुख्य हैं। विभिन्न देवी-देवताओं की शक्तियों और आयुधों वाली त्रिपुरान्तक और महिषमर्दिनी मूर्तियों को शक्ति समुच्चय और सामूहिक स्तर पर किसी भी चुनौती का सामना करने की चेतना का प्रतीक माना जा सकता है। कुछ हद तक दो या अधिक देवताओं के ऐक्य का बोध कराने वाली सम्पृक्त मूर्तियों (अर्धनारीश्वर, हरिहर, हरिहरहरिण्यगर्भ, हरिहरपितामह) को भी इसी कोटि में रखा जा सकता है।

मध्यकालीन प्रतिमाओं में विशेषतः बौद्ध देवमूर्तियों के सन्दर्भ में अनेकशः देवताओं के सामर्थ्य को ब्राह्मण देवी-देवताओं की तुलना में श्रेष्ठ बतलाने की चेष्टा की गई है। ऐसा प्रतीत होता है कि बिहार और बंगाल के क्षेत्रों में मध्यकाल में बौद्धों ने ब्राह्मण धर्म और उनके देवताओं को ही चुनौती के रूप में स्वीकार किया। यही कारण है कि समन्वय और सामंजस्य की भारतीय परम्परा से हटकर मध्यकालीन बौद्ध मूर्तियों में अनेक त्रैलोक्यविजय, पर्णशबरी, वज्रहंकार, अपराजिता, मारीची, हेवज्र, वज्रवाराही, विघ्नान्तक, कालचक्र, उच्छुष्म जम्भल, परमाक्ष एवं हरिहरिवाहनोद्भव, लोकेश्वर मूर्ति स्वरूपों में ब्रह्मा, विष्णु, शिव, गणेश, इन्द्र और शक्ति को अपमानजनक स्थिति में तथा कभी-कभी बौद्ध देवों के पैरों के नीचे दिखलाया गया। बौद्धधर्म और कला में ब्राह्मण धर्म के प्रति अभिव्यक्त कटुता के भाव के कारण ही सम्भवतः कालान्तर में एशिया के विभिन्न देशों में विशेष लोकप्रिय बौद्ध धर्म का प्रभाव अपनी ही जन्मस्थली भारत में काफी क्षीण हो गया। ब्राह्मण विरोध के कारण बौद्ध मुसलमान भी होने लगे थे। जैन कला में समन्वय का यह भाव ब्राह्मण धर्म के प्रति आदर भाव के साथ व्यक्त हुआ है। देवाधिदेव के रूप में तीर्थकरों की श्रेष्ठता बरकरार रखते हुए उनके यक्ष और यक्षी या शासन-देवताओं के रूप में अनेकशः गोमुख-चक्रेश्वरी, ईश्वर-गौरी, कुमार, ब्रह्मशान्ति आदि के रूप में ब्रह्मा, विष्णु, शिव, वैष्णवी, कार्तिकेय जैसे ब्राह्मण देवी-देवताओं को रूपायित किया गया। २२ वें तीर्थकर नेमिनाथ को बलराम और वासुदेव-कृष्ण का चचेरा भाई बताया गया और इस पृष्ठभूमि में ही मध्यकाल में देवगढ़ एवं मथुरा की नेमिनाथ की मूर्तियों में हलधर बलराम और चक्रधर वासुदेव-कृष्ण की आकृतियाँ उत्कीर्ण की गयीं। साथ ही देलवाड़ा के विमलवसही एवं लुणवसही (१२ वीं-१४वीं शती) में नेमिनाथ और कृष्ण की जलक्रीड़ा, आयुधशाला में दोनों के शक्ति परीक्षण, कृष्ण के जन्म, कालियामर्दन और गोपिकाओं के साथ कृष्ण की होली जैसे दृश्यों का भी उकेरन हुआ है।

मध्यकालीन देव-मूर्तियों में मूलनायक या प्रधान देवता की तुलना में पार्श्व या परिवार देवताओं एवं दूसरे धर्म के देवी-देवताओं को सामान्यतः प्रधान देवता से आकार में छोटा दिखाया गया है, जो तत्कालीन सोच से निर्दिष्ट रहा है। फलतः उन मूर्तियों से विभिन्न देवताओं के पारस्परिक तालमेल और उनकी तुलनात्मक प्रतिष्ठा का भी संकेत मिलता है। वास्तव में विभिन्न क्षेत्रों की मध्यकालीन प्रतिमाओं में प्रधान देवता और पार्श्व देवताओं के स्वरूप और आकार का तुलनात्मक और विस्तृत अवगाहन सामाजिक धार्मिक परिप्रेक्ष्य में महत्त्वपूर्ण निष्कर्षों की सम्भावना की दृष्टि से एक पृथक् अध्ययन का विषय है।

मध्यकालीन देव-मूर्तियाँ अधिकांशतः मन्दिरों के विभिन्न भागों पर उत्कीर्ण हैं। इनके निर्माण में शासकों की मुख्य भूमिका रही है। शासकों के अतिरिक्त व्यापारियों, व्यवसायियों, सामन्तों, मन्त्रियों और यहाँ तक कि सामान्यजनों ने भी मन्दिरों और मूर्तियों का निर्माण करवाया। धर्म के प्रति मनुष्य की सहज आस्था और जन्म से मृत्यु तक विभिन्न संस्कारों, आश्रमों एवं अन्य रूपों में जीवन से अविच्छिन्न रूप में धर्म का जुड़ा होना तथा भक्ति और पुरुषार्थ की प्राप्ति के निमित्त मन्दिरों एवं मूर्तियों के निर्माण की आवश्यकता, धार्मिक क्रियाकलाप का एक आवश्यक और अनिवार्य अंग था। इसी कारण मध्यकाल में राजनीतिक दृष्टि से क्षेत्रीय राजनीतिक शक्तियों एवं संस्कृति के क्षेत्रीय तत्त्वों की प्रधानता के बाद भी मन्दिरों और मूर्तियों के निर्माण का कार्य पूर्व की अपेक्षा अधिक विशाल पैमाने पर हुआ जिसका प्रमाण १०वीं से १३वीं शती ई० के मध्य के श्रेष्ठतम और विशालतम मन्दिर तथा उन पर उकेरी असंख्य देव मूर्तियाँ हैं। इन मूर्तियों में जीवन का स्पन्दन भी है और आध्यात्मिक स्तर पर ईश्वर की साधना और उसे स्पर्श करने, पूजने तथा स्वयं को पूरी तरह समर्पित कर आराध्य देव जैसा बनने की चाह भी है। यही कारण है कि चाहे हम खजुराहो के लक्ष्मण, पार्श्वनाथ, विश्वनाथ या कन्दरिया महादेव, मोढेरा के सूर्य, भुवनेश्वर के लिंगराज या राजा-रानी, कोणार्क के सूर्य, तंजौर और गगैकोण्डचोलपुरम् के बृहदीश्वर, हलेबिड और बेलूर के होयसलेश्वर और चन्नेकेशव या देलवाड़ा और कुम्भारिया के जैन मन्दिरों के समक्ष हों, हमें एक जैसी अनुभूति होती है।

खजुराहो के पार्श्वनाथ जैन मन्दिर (लगभग ९५०-७० ई०) की भित्तियों पर तीर्थकरों और अम्बिका यक्षी के साथ ही विष्णु, शिव, ब्रह्मा, राम, बलराम और काम की स्वतन्त्र एवं शक्तिसहित आलिंगन मूर्तियों का भी उकेरन हुआ है, जो इस स्थल पर धार्मिक सामंजस्य और सौहार्द का प्रमाण है। इसी प्रकार ओसिया (सूर्य मन्दिर), खजुराहो (विश्वनाथ एवं कन्दरिया महादेव मन्दिर) तथा भुवनेश्वर (मुक्तेश्वर मन्दिर) के ब्राह्मण मन्दिरों पर जैन तीर्थकरों की मूर्तियों का उत्कीर्णन भी महत्त्वपूर्ण है। वस्तुतः

मध्यकालीन देव-प्रतिमाओं एवं उनके लक्षणों में सामाजिक चिन्तन, आस्था और समाज के अन्तर्सम्बन्धों की सशक्त अभिव्यक्ति हुई है। इसी कारण सम्प्रदायभाव से आच्छादित प्रतिकूल धार्मिक-सामाजिक परिस्थितियों में मध्यकाल में प्रभूतसंख्या में धार्मिक सामंजस्य और समरसता दर्शाने वाली संघात मूर्तियों का उत्कीर्ण हुआ। ऐसे स्वरूपों में अर्धनारीश्वर, हरिहर, हरिहर-हिरण्यगर्भ और हरिहर-पितामह मूर्तियों की प्रधानता रही है। साथ ही कुछ नूतन स्वरूपों की अवधारणा भी दिखाई देती है जिनमें रूद्रभास्कर, सूर्यनारायण, हरिहर-सूर्यबुद्ध, सूर्यलोकेश्वर, शिवलोकेश्वर, विष्णुलोकेश्वर, ब्रह्मा-विष्णु एवं सूर्यनारायण ब्रह्म मुख्य हैं।

मध्यकालीन देव-मूर्तियों के अध्ययन में विभिन्न क्षेत्रीय तत्त्वों का ध्यान रखना नितान्त आवश्यक है। किसी परम्परा की कुछ क्षेत्रों में मान्यता और कुछ में अस्वीकृति के अपने कारण और आग्रह रहे हैं, जिसका सर्वश्रेष्ठ उदाहरण दक्षिण भारत में सूर्य की मूर्तियों में उदीच्यवेश, यानी उपानह, वर्म और अव्यंग का न दिखाया जाना है, जो परम्परा के प्रति उनकी प्रतिबद्धता दर्शाती हैं। इसी प्रकार उत्तर भारत में कुषाणकाल से मध्यकाल तक तीर्थकर मूर्तियों में अनिवार्य रूप से वक्षःस्थल में उत्कीर्ण 'श्रीवत्स' चिह्न दक्षिण भारत की तीर्थकर मूर्तियों में अनुपलब्ध है। इसका कारण दक्षिण भारत में बुद्ध मूर्तियों की अनुपलब्धता के परिप्रेष्य में बुद्ध और तीर्थकर मूर्तियों में भेदपरक चिह्न के रूप में 'श्रीवत्स' चिह्न की अनावश्यकता थी।

शिल्पशास्त्रीय परम्परा से निर्दिष्ट देवस्वरूपों के साथ ही विभिन्न क्षेत्रों में विरल स्वरूपों वाली देव-मूर्तियाँ भी अधिक संख्या में बनी, जो स्थानीय परम्पराओं या शिल्पी और धर्माचार्यों के चिन्तन का परिणाम और तत्कालीन सामाजिक आवश्यकता का प्रतिफल थी। मोढ़ेरा के सूर्य मन्दिर में त्रिपाद, त्रिहस्त और त्रिमुख देवता की स्थानक मूर्ति तथा द्वादश गौरी एवं शीतला की मूर्तियाँ, भुवनेश्वर में अजएकपाद शिव की मूर्ति, हिमाचल प्रदेश से अर्धनारीश्वर मूर्ति के तर्ज पर लक्ष्मी-विष्णु की अद्वय मूर्ति की कल्पना, खजुराहो में सिंहवाहनी लक्ष्मी, वैकुण्ठ विष्णु, षण्मुख और चतुष्पाद सदाशिव मूर्तियाँ, मध्य प्रदेश और गुजरात से प्राप्त तपस्विनी पार्वती (रानी पाटण की मूर्ति में पार्वती कौपीन एवं योगपट्टधारिणी भी हैं।) की मूर्तियाँ, होयसल मन्दिरों पर नृत्यरत सरस्वती एवं तपस्विनी पार्वती की मूर्तियाँ, चोल मन्दिरों पर त्रिभुजी अर्द्धनारीश्वर तथा तंजौर के बृहदीश्वर मन्दिर की हरिहर-पितामह की विलक्षण मूर्तियाँ, तालागाँव की महाप्रमाण शिवमूर्ति, देवगढ़ एवं खजुराहो की तीर्थकर मूर्तियों के लक्षणों से लक्षित बाहुबली एवं भरत की मूर्तियाँ तथा सरस्वती सहित त्रितीर्थी जिनमूर्ति, खजुराहो के आदिनाथ जैन मन्दिर (११वीं शती ई०) की रथिकाओं की सोलह जैन महाविद्या मूर्तियाँ, राजगिर के सोनभण्डार गुफा में सुपार्श्वनाथ और पार्श्वनाथ के साथ महावीर

और अजितनाथ की संघात मूर्तियाँ, उदयपुर के नागदा स्थित सास मन्दिर की नरसिंह पर आरूढ़ उमा-महेश्वर मूर्ति, ओसियाँ की मनु, नर-नारायण, शृंगारदुर्गा, तीर्थकरों के लक्षणों वाली जीवन्तस्वामी महावीर मूर्तियाँ और शीतला मूर्तियाँ एवं पूर्वी भारत में नालन्दा, कुर्किहार से प्राप्त बुद्ध की सर्वालंकृत मूर्तियाँ मध्यकालीन विलक्षण देव-मूर्तियों के कुछ मुख्य उदाहरण हैं। मध्यकालीन देवमूर्तियों में पशु-पक्षी और वनस्पति जगत् यानी सम्पूर्ण प्रकृति के साथ देवता के सामीप्य को और भी मुखर किया गया है। सभी देवी-देवताओं के साथ वाहन या लांछन के रूप में कोई न कोई पशु या पक्षी सम्बद्ध है। बुद्ध एवं तीर्थकरों को कैवल्य या सम्बोधि भी सर्वदा वृक्षों के नीचे ही प्राप्त हुई है। वराह, नरसिंह, वैकुण्ठ, गणेश, हयग्रीव, नैगमेषी, गोमुख पक्ष तथा कई अन्य देव-स्वरूपों के माध्यम से पशु जगत् के साथ देवताओं का सम्बन्ध उजागर हुआ है। बाहुबली की मूर्तियों में साधनारत बाहुबली के शरीर से लिपटी लतावल्लरियाँ प्रकृति के साथ बाहुबली के एकाकार होने की सूचक हैं। ऐसे ही बाहुबली के शरीर पर सर्प, वृश्चिक का अंकन और शिव-पशुपतिनाथ के साथ सर्प, मृग, व्याघ्र आदि का दिखाया जाना भी पशु जगत् के प्रति सम्मान तथा पर्यावरण सन्तुलन के प्रति मध्यकालीन शिल्पी के आग्रह और प्रतिबद्धता को व्यक्त करता है। नाग और वृक्ष पूजन की प्राचीन परम्परा भी निरन्तर विकसित होती रही। वास्तव में मध्यकालीन देव-मूर्तियों में प्रकृति जगत् का महत्त्व एक स्वतन्त्र अध्ययन का विषय है।

सन्दर्भ :

विस्तार एवं प्रतिमालक्षण के प्रारम्भिक अध्ययन से सम्बन्धित सामग्री के लिये द्रष्टव्य-

१. जे०एन० बनर्जी, दि डेवलपमेण्ट ऑफ हिन्दू आइकनोग्राफी, कलकत्ता, १९५६, प्रथम अध्याय, पृ० १-३५,
२. टी०ए० गोपीनाथ राव, एलिमेण्ट्स ऑफ हिन्दू आइकनोग्राफी, खण्ड-१, भाग-१, वाराणसी, १९७१(पु०मु०) पृ० १-५९,
३. डी०सी० भट्टाचार्य, आइकनोग्राफी ऑफ बुद्धिस्ट इमेज, दिल्ली, १९८०, अध्याय-१, पृ० १-९,
४. एन०पी० जोशी, 'मूर्ति विज्ञान के अध्ययन की पद्धतियाँ और विघाट', कला-इतिहास विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय द्वारा जनवरी १९८९ में आयोजित हिस्टोरियोग्राफी ऑफ इण्डियन आर्ट विषयक राष्ट्रीय संगोष्ठी में प्रस्तुत शोध-निबन्ध।

आचारांग में भारतीय कला

डॉ० हरिशंकर पाण्डेय*

सौन्दर्य-बोध को मानव द्वारा गति एवं क्रिया में मूर्त रूप प्रदान करने के सार्थक एवं सफल प्रयास का नाम है- कला। वह सत्य-सागर से समुद्भूत ऐसा महत्त्वपूर्ण रत्न है जो महार्घ्य गुणों की खनि, आनन्द का विलास और अविनश्वरता का परमलास्य रूप होता है।

भारतीय-वाङ्मय में यह शब्द १६वां भाग, छोटा भाग, चन्द्रमा का १६वाँ अंश, समय का एक भाग मूल ब्याज, कपट, नौका, सुन्दर, कोमल आदि अनेक अर्थों में प्रयुक्त मिलता है। प्रस्तुत संदर्भ में सुन्दर, कोमल, आनन्द आदि का वाचक 'कला' शब्द विचार्य है।

अनेक मनीषियों ने सुन्दर एवं मधुर सुख को लाने वाले को कला कहा है-

१. 'कं सुखं लातीति कला' अर्थात् जो सुख को प्रदान करे वह कला है।'

२. श्वादिगणीय 'कड मदे'^२ (कड = मदमस्त करना) धातु से भी कला शब्द की निष्पत्ति होती है जिसका अर्थ है मदमस्त करना, प्रसन्न कर देना। अर्थात् जिससे प्रसन्नता की प्राप्ति हो वह कला है।

३. चुरादिगणीय 'कल आस्वादने' धातु से कला शब्द निष्पन्न होता है, जिसका अर्थ है 'कलयति आस्वादयति इति कला' अर्थात् 'जो आस्वाद का विषय हो वह कला है। जिससे आनन्दरस की उपलब्धि किंवा चर्वणा (आस्वादन) हो उसे कला कहते हैं।

४. चुरादिगणीय धारणार्थक 'कल्' धातु से भी कला शब्द की निष्पत्ति हो सकती है जिसका अर्थ है- सुख को धारण करे, मन या चित्त को धारण या स्थिर करे, वह कला है। 'कला' की कमनीयता में मानसिक रमणीयता स्फूर्त होती है अर्थात् जहाँ मन स्थिर हो जाता है, वासनाएँ थम जाती हैं उसे कला कहते हैं।

कला परमानन्द की अभिव्यक्ति की आधारभूमि है। कला वस्तु या प्रतीक नहीं बल्कि अनुकृति और आत्माभिव्यंजन है। परम सत्य की अनुकृति की विशिष्टतम संज्ञा

* विभागाध्यक्ष, प्राकृत एवं जैनागम विभाग, सं०सं० वि०वि० वाराणसी।

कला है। कला वस्तु के पीछे सत्य, शिव और सौन्दर्य का समन्वयात्मक भाव-निदर्शन है। वह आस्तिकता की जननी है, श्रद्धा की प्राणमयी प्रतिष्ठा की सिन्दूर ललिमा है। विश्वास और श्रद्धा के सहारे ही वह नित्य-नवीन तथा चिर-सुन्दर है।

कला का कार्य सौन्दर्य सृजन है। सौन्दर्य की सहज एवं समादृत अभिव्यक्ति कला के माध्यम से ही संभव है। अहं-विस्मरण एवं आत्मरूप परमात्मस्मरण ही कला का धरोहर है। अहं की विस्मारिका एवं शिव-शक्ति की प्रसविता शक्ति ही कला है जिसमें सीमा का असीम में, मर्त्य का अमरत्व में तथा धरती का स्वर्ग में परिवर्द्धन हो जाता है। जहाँ जीवन का परम-सत्य शिव एवं शर्वाणी के ताण्डव-लास्य की शाश्वत सत्ता के रूप में उद्भासित होता है।

कला बन्धन नहीं परम मुक्ति के ऐश्वर्य का शाश्वत गीत है। वह निष्कल, निष्क्रिय, शान्त, निरवद्य, निरंजन एवं अमृत के परम हेतु तथा ऐश्वर्य विभूति सम्पन्न आत्मा की चेतनता की आधारशिला है। यही कारण है कि भारतीय मनीषि, प्रचेता, आगमधर, आप्तपुरुष एवं सर्वदर्शन समर्थ तत्त्वज्ञों की वाणी भी कलामयी होती है।

भारतीय कला तो वैदिककाल से ही विकसित रूप में मिलती है। वात्स्यायन विरचित 'कामसूत्र' में ६४, 'शुनीतिसार' में ६४, 'प्रबन्धकोश' में ७२, 'ललितविस्तर' में ८४, जैन वाङ्मय 'समवायांग' में ७२ कलाओं का निर्देश प्राप्त होता है।

'आचारांगसूत्र' जैन आगम-साहित्य में प्रथम स्थान पर प्रतिष्ठित है। यह चौर्ण-शैली में संग्रहित चरणकरणानुयोग का महनीय ग्रन्थ है। आत्मा की महार्घ्यता का बोध ही इस ग्रन्थ का लक्ष्य है। उस क्रम में अनेक भारतीय कलाओं का निर्देश प्राप्त होता है, जिसमें स्थापत्य कला, भोजन निर्माण कला, युद्ध कला आदि प्रमुख है। यथाप्राप्त विषय का निरूपण अधोविन्यस्त है।

१. स्थापत्य कला- भवन-निर्माण, नगर, दुर्ग, प्रासाद आदि से सम्बद्ध कौशल को स्थापत्य-कला कहते हैं। यह वात्स्यायन के 'कामसूत्र' में वास्तुविद्या के रूप में निर्विष्ट है। 'आचारांगसूत्र' में विकसित स्थापत्य कला का निदर्शन मिलता है। यहाँ स्थापत्य कला के आठ अंगों - वास्तुपुरुष (रेखा चित्र), पुरनिवेश (द्वारकर्म, रथ्याविभाग, प्रतोली-विनिवेश), प्रासाद ध्वजोच्छ्रित, राज वेश्मभवन (सभा, अश्वशाला, गजशाला), जनभवन, यज्ञवेदी, राजशिविर विनिवेश में से अनेक की उपलब्धि होती है। एक स्थल पर चार प्रकार के प्रासादों (गृहों) का उल्लेख मिलता है- 'आगंतागारेसु वा आरामागारेसु वा गाहावङ्कुलेसु वा परियावसहेसु वा अर्थात् आगंतागार (धर्मशाला), आरामागार (मुसाफिर खाना या उद्यान गृह), गाथापति गृह (गृहस्थ का घर) तथा

परियावसह (मठ)। लोग अपने निवास के लिए भवन का स्वयं निर्माण करवाते थे तथा जीर्ण-शीर्ण होने पर उसका पुनरुद्धार भी करवाते थे- आवसहं वा समुस्सिणोमि।^४ (मकान बनवा देता हूँ या ठीक करवा देता हूँ)। एक स्थल पर मकान के छोटे द्वार को बड़ा करने, बड़े द्वार को छोटा करने, सम वसति बनाना, हवादार गृह का निर्माण करना, उपाश्रय के बाहर भीतर घास आदि को ठीक कर सजाने आदि का भी उल्लेख मिलता है।

खुड्डियदुवारियाओ महल्लियदुवारियाओ कुज्जा, महल्लियदुवारियाओ खड्डियदुवारियाओ कुज्जा!.....संधारगं संधारेज्जा.....।^५

२. संगीत कला- भारतीय कला-मर्मज्ञों ने संगीत को महत्त्वपूर्ण स्थान दिया है। संगीत वह रसायन अमृत संजीवन या पारस पत्थर है जिसको प्राप्त कर हर व्यक्ति धन्य हो जाता है। अमरत्व की मूर्च्छनामयी रमणीय अभिव्यक्ति का नाम है- संगीत। इसीलिए कला-संगायकों ने समस्त कलाओं में इसे प्रथम स्थान पर परिगणित किया है। संगीत में शाश्वत और सार्वभौम शक्ति निहित होती है। इसीलिए बालक, वृद्ध आदि सामान्य जन के साथ महासाधक योगी जन भी संगीत-प्रिय होते हैं। 'आचारांगसूत्र' में अनेक स्थलों पर इसका उल्लेख मिलता है-

'आघाय-णट्ट-गीताइ'^६

३. वस्त्र निर्माण कला- भारतीय कलाओं में वस्त्र निर्माण कला का महत्त्वपूर्ण स्थान है। वस्त्रों की रंगाई, धुलाई की कला उत्कर्षवस्था में थी। 'ललितविस्तर' में वस्त्ररागः (कपड़ा रंगना), वात्स्यायन ने दशवशांगरागः एवं वस्त्रगोपनानि, शुक्रनीतिसार में अनेकतन्तु संयोगैः पटबन्धः (सूत से कपड़ा बुनना) एवं वस्त्रसंमार्जनम् (कपड़ा साफ करना) आदि वस्त्र से सम्बन्धित कलाओं का निर्देश किया गया है। 'आचारांगसूत्र' में रेशमी वस्त्र का उल्लेख मिलता है-

णो चेविमेण वत्थेण ।^७

जं ण रिक्कासि वत्थगं भगवं ।

वोसज्जवत्थमणगारे ॥^८

द्वितीय श्रुतस्कन्ध के पांचवे अध्ययन (प्रथम उद्देशक) में तत्कालीन वस्त्र-कला पर विस्तृत प्रकाश डाला गया है। ऊनी (जंगीयं), रेशमी (भंगियं), सन का बना (साणियं), पत्तो का बना (पोत्तगं), रुई का बना तथा पशुओं के रोवें एवं चमड़े से बने वस्त्रों का उल्लेख मिलता है।

जंगियं वा भंगियं वा-तूलकडं वा।^{१०} इन वस्त्रों का ओढ़ने एवं पहनने दोनों कार्यों में उपयोग किया जाता था। हठ संहनन वाले साधु को एक वस्त्र धारण करने का निर्देश मिलता है।^{१०} साड़ी निर्माण भी प्रचुर मात्रा में किया जाता था। निर्ग्रन्थिनियों (साध्वियों) के लिए एक साथ चार साड़ी रखने का उल्लेख मिलता है, जिसकी मात्रा दो हाथ से लेकर चार हाथ तक स्वीकृत की गई है। वस्त्र-सिलाई का कार्य भी होता था-‘अह पच्छा एगमेगं संसिविज्जा’।^{११}

पशुओं को मारकर भी वस्त्र बनाये जाते थे। साधुओं के लिए पशुहिंसा से निर्मित वस्त्र का ग्रहण निषिद्ध माना गया है।^{१२} इसी उद्देशक के पांचवें सूत्र में २१ प्रकार के मूल्यवान वस्त्रों का उल्लेख है, यथा-आईणगाणि (चूहे आदि के चमड़े के वस्त्र), सहिणाणि (चिकने बारीक वस्त्र), सहिणकल्लाणाणि (बारीक चकमदार वस्त्र), मनोहर वस्त्र, बकरे के नरम खाल के बने वस्त्र, इन्द्रनील वर्ण के कपास का बना, सामान्य कपास का बारीक वस्त्र, दुकूल (गौडदेशीय कपास से बना), मलय (मलयज सूत से बना) वस्त्र, वल्कल वस्त्र, अंशुक, चीनांशुक या देशराग वस्त्र, अमल वस्त्र, गजलवस्त्र, फालिक वस्त्र, कोयव वस्त्र, रत्नकम्बल अथवा मलमल आदि।^{१३} चमड़े के बने वस्त्रों के भी अनेक प्रकार मिलते हैं, यथा- उद्रवस्त्र (उद्र नामक मत्स्य के चमड़े से बना वस्त्र), पेस (सिन्धुदेश में पतली चमड़ी वाले पशुओं से बने वस्त्र), पेशल-वस्त्र, कृष्णमृगों की चमड़ी से बना वस्त्र, व्याघ्र-चर्म के बने वस्त्र आदि।^{१४}

वस्त्रों में सुगन्धित द्रव्य भी लगाए जाते थे।^{१५} वस्त्रों की रंगाई, सफाई एवं धुपादि से सुगन्धित करने की कला भी उच्चकोटी की थी।^{१६}

४. पात्र (बर्तन) निर्माण कला- ‘वात्स्यायन-कामसूत्र’ में निर्दिष्ट ६४ कलाओं की सूची में ३५वें स्थान पर तक्षक कर्माणि एवं शुक्रनीतिसार में उद्दिष्ट ६४ कलाओं की सूची में २६वें स्थान पर ‘मृत्तिकाकाष्ठपाषाण धातुभांडादिसक्रिया (मिट्टी, लकड़ी, पत्थर और धातुओं से बर्तन निर्माण कला) का उल्लेख प्राप्त होता है। ‘आचारांगसूत्र’ में बर्तन-निर्माण कला का विकसित रूप उपलब्ध होता है।

उस समय (आचारांग काल में) मिट्टी, तुम्बी, लकड़ी, लोहा, ताम्बा आदि के अतिरिक्त अनेक बहुमूल्य धातुओं से भी बर्तन बनाये जाते थे। लोहा, ताम्बा, रांगा, शीशा, चाँदी, सोना, पीतल, फौलाद, मणि कांच या कांस्य, शंख, सींग, दाँत, वस्त्र, पाषाण, चमड़ा आदि से विभिन्न प्रकार के बर्तनों का निर्माण होता था- अयपायाणि तउपायाणि.... चम्मपायाणि वा।^{१७}

पात्रों में मूल्यवान् पट्टे भी बांधे जाते थे।^{१८} पात्रों में तेल, घी आदि का लेप लगाकर उन्हें सुगन्धित द्रव्यों से वासित किया जाता था।^{१९} इस प्रकार 'आचारांगसूत्र'^{२०} में उन्नत बर्तन कला का दिग्दर्शन प्राप्त होता है।

५. भूषण निर्माण कला- प्राचीन काल में यह कला उन्नतावस्था में थी। 'आचारांगसूत्र' में सुवर्ण एवं बहुविध मूल्यवान मणियों से बने विविध आभूषणों का उल्लेख मिलता है। मणि, मोती, सोना एवं चाँदी के बने कुंडल, करधनी, कड़ा, बाजूबंद, तिलड़ा हार, लम्बी माला, अठारह लड़ों का हार, नौ लड़ों का अर्धहार, एकावली, कनकावली, मुक्तावली एवं रत्नावली हार आदि आभूषणों का युवतियाँ प्रभूत प्रयोग करती थी।^{२१} अन्यत्र एक स्थल पर रंग-बिरंगे मणि एवं कुण्डल का उल्लेख है-आरत्तं विरत्तं मणिकुंडलं.....।^{२२}

६. विलेपन निर्माण कला- प्राचीन काल में विविध प्रकार के सुगन्धित द्रव्यों को मिश्रित कर लेप बनाने की कला उन्नतावस्था में थी। विवाह, दीक्षा काल एवं सामान्य रूप से नवयौवना-युवतियों के द्वारा अपने शरीर पर सुगन्धित लेप लगाये जाते थे। गृष्म ऋतु में चैदनादि शीतल पदार्थों का लेप तैयार किया जाता था। 'आचारांगसूत्र' में अनेक स्थलों पर विलेपन-निर्माण कला का उल्लेख प्राप्त होता है। भगवान महावीर जब दीक्षित हुए थे तो दीक्षा काल में अनेक सुगन्धित द्रव्यों का लेप लगाया गया था। यह एक प्रकार की प्रथा थी जो आज भी उसी रूप में प्रचलित है। भगवान महावीर के शरीर पर किए गए सुगन्धित द्रव्यों के लेप से अनेक जीव आकर्षित होकर उनके शरीर पर आते थे और काटते थे- बहवे पाणजाइया आगम्म।^{२३}

अन्यत्र अनेक स्थलों पर विविध प्रसंगों में विलेपन-द्रव्य का नाम निर्देश प्राप्त होता है। एक स्थल पर स्नान करते समय सुगन्धित-विलेपन एवं शरीर में तेल मालिश का उल्लेख मिलता है^{२४}। व्याधिकाल में लगाने (मालिश) के लिए भी अनेक प्रकार के विलेपन तैयार किए जाते थे।^{२५}

७. पंखा एवं सूप निर्माण कला- आवश्यक गृह-उपकरणों में पंखा और सूप का महत्त्वपूर्ण स्थान है। गर्मी से बचने के लिए तथा अग्नि को प्रज्वलित करने के लिए विभिन्न प्रकार के पंखों का उपयोग किया जाता था। सूप का प्रयोग अन्न को साफ करने के लिए ही होता था लेकिन कभी-कभी अग्नि को प्रज्वलित करने में भी उसका उपयोग कर लिया जाता था। 'आचारांगसूत्र' में इन दोनों का उल्लेख मिलता है। हवा प्राप्त करने के लिए ताड़पत्र, मयूरपंख एवं वस्त्रादि के पंखे बनाये जाते थे-सुप्येण वा विद्यणेण वा तालियंटेण वा पत्तेण वा पत्तभंगेण वा.....।^{२६}

८. भोजन कला- वात्स्यायान ने 'विचित्र शाकयूषभक्ष्यविकार क्रिया', तथा शुक्रनीतिसार कर्ता ने 'हीनादिरससंयोगान्नादिसंपाचनम् (नाना रसों से युक्त भोजन बनाना) के रूप में इस कला का उल्लेख किया है। 'आचारांगसूत्र' में इसका विस्तृत वर्णन मिलता है। उस समय समाज-व्यवस्था गरीब और धनवान दो वर्गों में विभाजित थी। दरिद्र लोग रूखा-सुखा भोजन ही तैयार करते थे। 'उपधानश्रुत' में अनेक स्थलों पर तथा अन्यत्र भी ऐसे भोजन का उल्लेख मिलता है। समृद्ध वर्ग में यह कला भी समृद्ध थी।

उस समय समाज में शाकाहारी और मांसाहारी दोनों तरह के लोग थे। अनेक अवसरों पर बड़े-बड़े भोज का आयोजन किया जाता था जिसमें अनेक प्रकार के खाद्य-पदार्थ (शाकाहार, मांसाहार)- भोज्य पदार्थ तैयार किए जाते थे। विवाह एवं कन्या की विदाई के अवसर पर भोज, मृतक (श्राद्ध) भोज, प्रीति भोज, यक्ष-यात्रा के समय आयोजित भोज प्रमुख थे।^{१६} उत्तम भोजन में शाकाहार की ही गणना होती थी, जिसमें रसमय पदार्थ, खीर, दही, मक्खन, घी, गुड़, तेल, पूड़ी, राब, पुवा तथा श्रीखण्ड आदि की प्रमुखता थी।^{१७} एक स्थल पर सांयकालीन भोजन एवं प्रतिराश बनाने का उल्लेख मिलता है- सामासाए पायरासाए।^{१८} 'उपधानश्रुत' में व्यंजन सहित भोजन, व्यंजन रहित शुष्क भोजन, ठण्डा भोजन, वासी-उड़द, सत्तु एवं चने आदि के आहार का भी निर्देश प्राप्त होता है-

अवि सूड्यं व सुक्कं वा सीयपिंडं पुराणकुम्मासं ।

अदु बक्कसं पुलागं वा लद्धे पिंडे अलद्धए दविए ॥^{१९}

९. पेयद्रव्य निर्माण कला- वात्स्यायन ने 'पानक रसरागासवयोजनम्' (भिन्न-भिन्न पेय तैयार करना) के रूप में इस कला का उल्लेख किया है। 'आचारांगसूत्र' में अनेक स्थलों पर इस कला का निर्देश प्राप्त होता है। श्रीखण्ड, पानक आदि पेय-द्रव्यों का निर्माण प्रभूत मात्रा में स्वयं के उपयोग के लिए किया जाता था।^{२०} फलों से भी पेय-द्रव्य बनाया जाता था, जिनमें आम, अंबाड़ी, कपित्थ, बिजौरै, दाख, दाड़िम (अनार), खजूर, नारियल, कैर, बेर, आंवले आदि का प्रयोग किया जाता था।^{२१} मद्य-निर्माण भी किया जाता था।^{२२}

१०. युद्ध कला- 'आचारांगसूत्र' में तत्कालीन विकसित युद्ध कला का निदर्शन प्राप्त होता है। 'उपधानश्रुत' में एक ओर जहाँ दण्डयुद्ध एवं मुष्टियुद्ध का उल्लेख मिलता है- दंडजुद्धाईं मुष्टिजुद्धाईं^{२३} वहीं गजसेना^{२४} तथा वीरयोद्धा^{२५} का निर्देश भी मिलता है। दण्ड, मुष्टि, भाला आदि शस्त्रों के द्वारा युद्ध किया जाता था।^{२६} मनोरंजन के लिए कृत या कारित पशुओं या पक्षियों के युद्ध का वर्णन मिलता है।

उपर्युक्त कलाओं के अतिरिक्त भी अनेक भारतीय कलाओं का 'आचारांगसूत्र' में निर्देश मिलता है, परन्तु विस्तार-भय के कारण सबका विवेचन नहीं किया जा सकता है।

सन्दर्भ :

- | | |
|---|-----------------|
| १. साहित्यतरंग, सदगुरुशरण अवस्थी, पृष्ठ-२ | |
| २. पाणिनिकृत धातुपाठ, रामलाल कपूर ट्रस्ट, पृष्ठ-९ | |
| ३. आचारांगसूत्र, २.२.२.७ | ४. वही, १.८.२.१ |
| ५. ,, २.१.२.७ | ६. ,, १.९.१.९ |
| ७. ,, १.९.१.२ | ८. ,, १.९.१.४ |
| ९. ,, २.५.१.१ | १०. ,, २.५.१.१ |
| ११. ,, २.५.१.१ | १२. ,, २.५.१.३ |
| १३. ,, २.५.१.५ | १४. ,, २.५.१.६ |
| १५. ,, २.५.१.९ | १६. ,, २.५.१.४ |
| १७. ,, २.६.१.५ | १८. ,, २.६.१.६ |
| १९. ,, २.६.१.९ | २०. ,, २.२.१.१३ |
| २१. ,, १.२.३.१० | २२. ,, १.९.१.३ |
| २३. ,, २.२.३.९ | २४. ,, २.२.१.१० |
| २५. ,, २.१.७.६ | २६. ,, २.१.४.१ |
| २७. ,, २.१.४.५ | २८. ,, १.२.५.१ |
| २९. ,, १.९.४.१३ | ३०. ,, २.१.३.१ |
| ३१. ,, २.१.८.१ | ३२. ,, २.१.३.२ |
| ३३. ,, १.९.१.९ | ३४. ,, १.९.३.८ |
| ३५. ,, १.९.३.१३ | ३६. ,, १.९.३.१० |



जैन धर्म और ब्रज

डा० एस०पी० सिंह*

समन्वय प्रधान सांस्कृतिक वातावरण से ओत-प्रोत ब्रज क्षेत्र का गौरवशाली इतिहास लोकविश्रुत है। ब्रज में निवास ही मोक्ष प्राप्ति का हेतु है जैसा कि सप्तमोक्ष प्रदायिका नगरों में मथुरा की गणना से स्वतः सिद्ध है। ब्राह्मण, जैन एवं बौद्ध – ये तीनों धर्म मथुरा के समन्वय प्रधान सांस्कृतिक वातावरण में फलते-फूलते रहे। सम्भवतः यह मथुरा ही है, जहाँ इन तीनों धर्मों को फलने-फूलने का उचित वातावरण हजारों वर्षों तक मिलता रहा।^१ भगवान कृष्ण ने मथुरापुरी में जन्म लेकर जिस योग की निष्ठा को अपने जीवन में मूर्तिमान किया, उसी अविचल निष्ठा के सूत्र को हम तीर्थकरों के जीवन में पिरोया हुआ पाते हैं।^२

जैन धर्म अत्यन्त प्राचीनतम है। इसे छठी शताब्दी ई०पू० के धार्मिक आन्दोलन की परिणति नहीं कहा जा सकता है। छठी शताब्दी ई०पू० में आविर्भूत महावीर इस धर्म के चौबीसवें तीर्थकर थे। इनके पहले २३ तीर्थकर हो चुके थे। महावीर जैन धर्म के प्रवर्तक नहीं थे, किन्तु हम उन्हें छठी शताब्दी ई०पू० के जैन आन्दोलन का प्रवर्तक कह सकते हैं।^३ कुछ विद्वान् जैन धर्म की प्राचीनता प्रागैतिहासिक काल तक ले जाते हैं। हड़प्पा से प्राप्त मस्तकहीन नग्नमूर्ति जैन परम्परा के पूर्णतः अनुकूल है। मुद्राओं पर ध्यानस्थ त्रिशृंगयुक्त मस्तक जैन पद्मासन मूर्ति से तुलनीय है। ये मूर्तियाँ श्रमण-परम्परा को प्रतिबिम्बित करती हैं तथा श्रमण-परम्परा जैन धर्म के अनुसार ब्राह्मण एवं बौद्ध धर्म से प्राचीनतर है।^४ वैदिक साहित्य में जैन तीर्थकरों का उल्लेख मिलता है। 'ऋग्वेद' के केशीसूक्त में श्रमण-परम्परा का उल्लेख मिलता है। वस्तुतः जैन धर्म अवैदिक श्रमणधारा से उद्भूत हुआ पर वैदिकधारा का भी इसके ऊपर कुछ प्रभाव पड़ा।^५

प्राचीन काल से ही जैन धर्म का मथुरा से अटूट सम्बन्ध मिलता है। जैन शास्त्रों में मथुरा विषयक आख्यान विपुल मात्रा में उपलब्ध हैं, जिनका प्रमाणीकरण पुरातत्व से भी अभिप्रेत है। प्राचीनतम जैन साहित्य 'ज्ञाताधर्मकथांगसूत्र' में मथुरा का उल्लेख द्रौपदी स्वयंवर के प्रसंग में हुआ है। तत्पश्चात् उपांग सूत्रों के 'प्रज्ञापनासूत्र' में २५ आर्य देशों में शूरसेन व मथुरा का वर्णन है।^६ उत्तरापथ में मथुरा एक महत्त्वपूर्ण

* प्रदर्शक व्याख्याता, राजकीय संग्रहालय, मथुरा, उ०प्र०

नगर था, जिसके अन्तर्गत छियानबे ग्रामों में लोग अपने घरों में और चौराहों पर जिनमूर्ति की स्थापना करते थे।^{१०} यहाँ जैन श्रमणों का बहुत प्रभाव था।^{११} 'निशीथ' व 'ठाणांगसूत्र' में मथुरा की गणना भारत की दस प्रमुख राजधानियों में की गई है तथा अरहन्त-प्रतिष्ठित, चिरकाल प्रतिष्ठित आदि उपाधियों से सम्बोधित किया गया है।

जैन-परम्परा के अनुसार जैन तीर्थकरों का प्राचीन ब्रज से घनिष्ठ सम्बन्ध था। जिनसेनकृत 'महापुराण' के अनुसार भगवान ऋषभनाथ के आदेश से इन्द्र ने इस भूतल पर जिन ५२ देशों (राज्यों) का निर्माण किया था, उनमें एक शूरसेन देश (राज्य) भी था, जिसकी राजधानी मथुरा थी।^{१२} सातवें तीर्थकर सुपार्श्वनाथ की यह जन्म-स्थली मानी जाती है।^{१३} यद्यपि इस सम्बन्ध में विद्वानों में मतभेद है तथापि इतना तो सुनिश्चित है कि सुपार्श्वनाथ का मथुरा से कोई विशेष सम्बन्ध रहा होगा, तभी उनकी स्मृति में जैन धर्म का सबसे प्राचीन स्तूप निर्मित हुआ, जिसे देवनिर्मित स्तूप की संज्ञा से अभिहित किया गया है। जैन अनुश्रुति के अनुसार इस देवनिर्मित स्तूप का निर्माण कुबेरा देवी ने सातवें तीर्थकर सुपार्श्वनाथ के काल में किया था। चौदहवें तीर्थकर अनन्तनाथ जी की पूजा में भी एक स्तूप बनाये जाने की किंवदन्ती है।^{१४} बाइसवें तीर्थकर नेमिनाथ अथवा अरिष्टनेमि की जन्म-स्थली ब्रज क्षेत्र है। शौरिपुर के यदुवंशी राजा अंधकवृष्णी के ज्येष्ठ पुत्र समुद्रविजय से नेमिनाथ उत्पन्न हुए तथा सबसे छोटे पुत्र वसुदेव से वासुदेव कृष्ण उत्पन्न हुए। इस प्रकार नेमिनाथ और कृष्ण आपस में चचेरे भाई थे।^{१५} महाभारत में नेमिनाथ को जिनेश्वर कहा गया है।^{१६} शौरिपुर का समीकरण विद्वानों ने आगरा जिले में अवस्थित बटेश्वर से किया है।^{१७} नेमिनाथ एवं कृष्ण के सम्बन्धों की पुष्टि मथुरा से प्राप्त मूर्ति-शिल्प से भी हो जाती है। इन प्राचीन मूर्तियों में बलराम और श्रीकृष्ण के साथ नेमिनाथ का अंकन हुआ है।^{१८} ऐसा प्रतीत होता है कि २३वें तीर्थकर पार्श्वनाथ का सम्पर्क भी ब्रज से था। पार्श्वनाथ के समय में स्वर्ण स्तूप को ईंटों से आवेष्टित कर सुरक्षित बनाया गया। बाद में भी इस स्तूप का जीर्णोद्धार होता रहा और ई० दसवीं शती तक 'देवनिर्मित स्तूप' उत्तर भारत का एक प्रमुख जैन केन्द्र रहा।^{१९}

जैन मान्यताओं के अनुसार २४वें एवं अन्तिम तीर्थकर भगवान महावीर ने भी ब्रज में विहार किया था।^{२०} तत्कालीन मथुरा के शासक उदितोदय अथवा भीदाम ने महावीर का स्वागत सत्कार किया था तथा उनसे दीक्षा ली थी। जैन धर्म के इतिहास में मथुरा का आदरणीय स्थान होने का एक कारण यह भी है कि महावीर के शिष्य आचार्य सुधर्मा के उत्तराधिकारी आचार्य जम्बूस्वामी ने न केवल यहाँ निवास किया,

अपितु केवलज्ञान तथा मोक्ष प्राप्त कर मथुरा को सदा के लिए सिद्धपीठ बना दिया।^{१८} मथुरा का जैन चौरासी क्षेत्र जैनियों की आज भी पुण्य तीर्थस्थली है। जैन मान्यताओं के अनुसार अन्तिम केवली जम्बूस्वामी ने यहीं तपस्या की थी और उनका निर्वाण (४६५ ई०पू०) भी यहीं हुआ था। उन्होंने ५०१ चोरों को साधु बनाया। अतः जम्बूस्वामी की स्मृति में यहाँ ५०१ स्तूप निर्मित किये गये थे। इन स्तूपों को १६वीं शताब्दी ई० तक विद्यमान रहने तथा उनके जीर्णोद्धार कराये जाने के संकेत जैन साहित्य में मिलते हैं।^{१९}

ब्रज में जैन धर्म की प्रबलता का सबसे पुष्ट प्रमाण कंकाली टीले की खुदाई में जैन स्तूप के अवशेषों का प्राप्त होना है। जिसे देवनिर्मित स्तूप की संज्ञा से अभिहित किया गया है। सम्भवतः यह सबसे प्राचीन स्तूप ज्ञात होता है। जैन ग्रन्थ 'विविध तीर्थकल्प' से ज्ञात होता है कि सातवें तीर्थंकर सुपार्श्वनाथ के तीर्थ में धर्मरुचि और धर्मघोष नामक दो जैन मुनि थे। वे एक बार विहार (भ्रमण) करते हुए मथुरा पधारे। इन दोनों आचार्यों ने मथुरा के भूतरमण नामक उद्यान में पहुँचकर चातुर्मास की कठोर तपस्या प्रारम्भ कर दी। उनकी साधना से कुबेरा नामक देवी बहुत प्रसन्न हुई और उन जैन मुनियों की प्रेरणा से देवी ने रातों-रात सोने और रत्नों से सुशोभित कलश युक्त सुन्दर स्तूप का निर्माण करा दिया।^{२०} जिसकी चारों दिशाओं में पंचवर्ण रत्नों की मूर्तियाँ विराजमान थीं। उसमें मूलनायक प्रतिमा सातवें तीर्थंकर सुपार्श्वनाथ की थी।

जैन ग्रन्थ 'व्यवहारभाष्य' में एक अनुश्रुति मिलती है, जिसके अनुसार मथुरा में एक देवनिर्मित स्तूप था जिस पर आधिपत्य के लिए जैनों व बौद्धों में द्वन्द्व हुआ था। अन्त में जैनों की जीत हुई और स्तूप पर उनका अधिकार हो गया।^{२१} इस आख्यान से ऐसा प्रतिध्वनित होता है कि देवनिर्मित स्तूप पर कुछ समय तक बौद्धों का आधिपत्य हो गया था। डॉ० मोतीचन्द्र ने इस अनुश्रुति को सारांश रूप में बड़े ही रोचक ढंग से प्रस्तुत किया है- 'एक समय एक जैनमुनि ने मथुरा में तपस्या की। तपस्या से प्रसन्न होकर एक जैन देवी ने मुनि को वरदान देना चाहा, जिसे मुनि ने स्वीकार नहीं किया। रुष्ट होकर देवी ने रत्नमय स्तूप की रचना की। स्तूप को देखकर बौद्ध भिक्षु वहाँ उपस्थित हो गये और स्तूप को अपना कहने लगे। बौद्धों और जैनों की स्तूप सम्बन्धी लड़ाई छः महीनों तक चलती रही। जैन साधुओं ने ऐसी गड़बड़ देखकर उस देवी की आराधना की। जिसका वरदान वे पहले अस्वीकार कर चुके थे। देवी ने उन्हें राजा के पास जाकर यह अनुरोध करने की सलाह दी कि राजा इस शर्त पर फैसला करें कि अगर स्तूप बौद्धों का है तो उस पर गैरिक झंडा फहराना चाहिए और अगर वह जैनों का है तो उस पर सफेद झंडा लहराना चाहिए। रातों-रात देवी ने बौद्धों का केसरिया झंडा बदल कर जैनों

का सफेद झंडा स्तूप पर लगा दिया और सबेरे जब राजा स्तूप देखने आया तो उस पर सफेद झंडा लहराते देखकर उसे जैन स्तूप मान लिया^{२३}।

श्री अगरचन्द्र नाहटा ने जैन स्तूप के सम्बन्ध में बड़े ही महत्त्वपूर्ण साहित्यिक प्रमाण प्रस्तुत किये हैं। संगमसूरिकृत १२ वीं शती की संस्कृत रचना 'तीर्थमाला' और सिद्धसेनसूरिकृत १३वीं शती की अपभ्रंश कृति 'सकलतीर्थ स्तोत्र' में मथुरा की इसलिए वन्दना की गयी है कि वहाँ श्री देवी विनिर्मित स्तूप के साथ ही साथ नेमिनाथ और पार्श्वनाथ के रमणीक महास्तूप भी हैं :^{२४}—

मथुरापुरि प्रतिष्ठितः सुपार्श्वजिन काल संभवो जयति ।

अद्यापि सूराम्यर्च्यं श्रीदेवी विनिर्मितः स्तूपः ॥८॥

संगमसूरिकृत 'तीर्थमाला'

सिरि पासनाह सहियं रम्यं, सिरि निन्नियं महाथून ।

कलिकाल विसुतिस्थं महुरा नयरीय (ए) बदाभि ॥२०॥

सिद्धसेनकृत 'सकल तीर्थस्तोत्र'

जैन मान्यताओं के अनुसार मथुरा के स्तूपों की परम्परा मुगल सम्राट अकबर के काल तक पायी जाती है, क्योंकि उस समय के जैन पंडित राजमल्ल ने अपने 'जम्बूस्वामी चरित' में लिखा है कि मथुरा में ५१५ जीर्ण स्तूप थे, जिनका उद्धार टोडरमल सेठ ने अपरिमित व्यय से कराया था।^{२५}

कंकाली स्थित देवनिर्मित स्तूप की प्राचीनता साहित्य से सिद्ध करना मुश्किल है। इस दिशा में पुरातत्त्व ने हमारा कार्य आसान कर दिया है। यहाँ से कुषाण कालीन मूर्ति^{२६} के पादपीठ पर एक लेख मिला है जिसमें देवनिर्मित स्तूप में अर्हत् की प्रतिमा स्थापित करने का उल्लेख है। यह लेख सं० ७९ अर्थात् कुषाण सम्राट वासुदेव के राज्य काल ई० १५७ का है।^{२६} यहाँ देवनिर्मित शब्द का उल्लेख अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। विद्वानों के आकलन के अनुसार द्वितीय शताब्दी ई० में ही यह स्तूप इतना प्राचीन माना जाता था कि इसके निर्माण का इतिहास लोग भूल चुके थे। अतः परम्परानुसार लोग इसे देवों द्वारा विनिर्मित मानने लगे थे। इससे इस स्तूप की प्राचीनता अपने आप सिद्ध हो जाती है। कंकाली टीले से प्राप्त आयागपट्ट एवं अन्य शिलाखण्डों पर उत्कीर्ण स्तूपों के अध्ययन के आधार पर डॉ० अग्रवाल ने देवनिर्मित स्तूप के निर्माण की तिथि द्वितीय शताब्दी ई० पू० के आरम्भ में रखा है।^{२७} अतः कहा जा सकता है कि सिन्धु संस्कृति के पश्चात् मथुरा का देवनिर्मित स्तूप भारत का प्राचीनतम स्तूप था।^{२८} इस तथ्य से देशी तथा विदेशी सभी विद्वानों ने अपनी सहमति प्रकट की है।

मथुरा के कंकाली टीले की खुदाई से हमें बहुसंख्यक जैन मूर्तियाँ तथा जैन वास्तु प्राप्त हुए हैं। ऐसा लगता है कि जैन धर्म में मूर्तिपूजा का प्रारम्भ जैन धर्म की जन्म-स्थली बिहार में न होकर भक्ति की जन्मस्थली मथुरा में हुआ।^{३०} कंकाली की खुदाई में सभी धर्मों की मूर्तियाँ मिली हैं। परन्तु जैन मूर्ति-शिल्प की संख्या बहुत अधिक है। विद्वानों ने इनका काल निर्धारण २री शती ई० पू० से लगभग १२ वीं शती ई० के बीच किया है।^{३१} श्री यू०पी० शाह के अनुसार यह शिल्प सामग्री लगभग १५० ई० पू० से १०२३ ई० के मध्य की है।^{३२} डॉ० अग्रवाल ने इसका काल २री शती ई० पू० से ११वीं शती तक माना है। उनके अनुसार लगभग १३०० वर्षों तक जैन धर्म के अनुयायी यहाँ पर चित्र-शिल्प की सृष्टि करते रहे।^{३३}

कंकाली टीले से प्रभूत मात्रा में जैन वास्तु-शिल्प आयागपट्ट, स्तूप उत्खचित अन्य शिलाखण्ड, तीर्थकर मूर्तियाँ, अष्टमांगलिक चिह्न (चक्र, स्वस्तिक श्रीवत्स, मीन-मिथुन, नन्द्यावर्त, पूर्णघट, माला, भद्रासन आदि देवी प्रतिमाएँ तथा लोक जीवन से सम्बन्धित अन्य चित्रण भी मिले हैं। यहाँ से प्राप्त अधिकांश पुरावास्तु लखनऊ एवं मथुरा के संग्रहालयों में सुरक्षित हैं। कतिपय अभिलेखों में आयागपट्ट का उल्लेख हुआ है, जिसकी स्थापना अर्हत् की पूजा के लिए होती थी। अतएव आयागपट्टों को जैन पूजा का प्रथम सोपान कहा गया है।^{३४} प्रारम्भ में इन्हीं आयागपट्टों पर तीर्थकरों की छोटी प्रतिमाएँ उकेरी जाती थी। बाद में तीर्थकरों की स्वतंत्र प्रतिमाओं का निर्माण होने लगा। यहाँ से तीर्थकरों की अधिसंख्य प्रतिमाएँ मिली हैं। जैन मूर्ति-अभिलेख व जैन साहित्य के अध्ययन से यह तथ्य प्रकट होता है कि मथुरा में ऋषभनाथ, सुपार्श्वनाथ, नेमिनाथ, पार्श्वनाथ तथा वर्धमान महावीर की पूजा प्रचलित थी।^{३५} जैन देवियों में सरस्वती, अम्बिका, नैगमेषी आदि की मूर्तियाँ मिली हैं। अब यह स्पष्ट है कि तीर्थकर मूर्तियाँ सर्वप्रथम मथुरा में ही विनिर्मित हुईं। कंकाली टीले से कुषाण काल से लेकर मध्यकाल तक की मूर्तियाँ मिली हैं। स्पष्ट है कि एक हजार से भी अधिक वर्षों तक मथुरा निरन्तर एक जैन कला केन्द्र के रूप में विकसित होता रहा था।^{३६} इससे मध्यकाल तक ब्रज में जैन धर्म की महत्ता पर प्रकाश पड़ता है।

मथुरा से प्राप्त शक-कुषाणकालीन अधिकांश जैन प्रतिमाएँ एवं आयागपट्ट अभिलिखित हैं। ये लेख ब्राह्मी लिपि में हैं तथा इनकी भाषा संस्कृत-प्राकृत मिश्रित है। जिसमें ब्रज में जैन धर्म के इतिहास पर व्यापक प्रकाश पड़ता है। इन लेखों में जैन धर्म के विभिन्न गणों, गच्छों, कुलों, शाखाओं आदि का उल्लेख मिलता है।^{३७} साथ ही अनेक मुनियों, श्रावकों तथा उनके भक्त शिष्यों का भी नामोल्लेख हुआ है। ये उल्लेख भद्रबाहु के 'कल्पसूत्र' में ज्यों के त्यों हमें मिल जाते हैं।^{३८} इससे ज्ञात होता है कि ईसा की प्रथम शताब्दी में मथुरा में जैनों का काफी जोर था।^{३९}

मथुरा के शिलालेख जैन समाज में महिलाओं के सम्मानित स्थान-प्राप्ति पर प्रकाश डालते हैं।^{३९} अधिकांश दान और प्रतिमा प्रस्थापना उन्हीं की श्रद्धा भक्ति का फल था। 'माथुरक' लवदास की भार्या तथा फल्गुयश नर्तक की स्त्री शिवयशा ने एक-एक सुन्दर आयागपट्ट बनवाये, जो इस समय लखनऊ संग्रहालय में हैं। देवपाल श्रेष्ठी की कन्या, श्रेष्ठीसेन की धर्मपत्नी क्षुद्रा ने वर्धमान प्रतिमा का दान करके अपने को कृतार्थ किया।^{४०} एक सुन्दर आयागपट्ट^{४१} से ज्ञात होता है कि गणिका लवणशोमिला की पुत्री वसु ने स्वामी महावीर की स्मृति में इसे स्थापित किया था। ग्रामीक जयनाग की कुटुम्बिनी तथा ग्रामिक जयदेव की पुत्रवधु ने सं० ४० (१०८ ई०) में एक शिलास्तम्भ का दान किया।^{४२} इसी प्रकार लेखों में वेणी नामक श्रेष्ठी की धर्मपत्नी कुमारमिश्रा, मणिचार जयभट्ट की दुहिता तथा लौहवषिज् फल्गुदेव की धर्मपत्नी मित्रा, आचार्य वलदत्त की शिष्या तपस्विनी कुमारमित्रा, गुहदत्त की पुत्री तथा धनहस्ति की पत्नी श्राविका दत्ता, राज्यवसु की पत्नी तथा देविल की माता विजयश्री दत्ता, जयदास की धर्मपत्नी गूढा, सार्थवाहिनी, धर्मशोभा, कौशिकी, विद्यामित्रा, अमोहिनी आदि श्राविकाओं ने जिन-प्रतिमा, सर्वतोभद्रिकाप्रतिमा, शिलास्तम्भ, शिलापट्ट आदि की स्थापना बड़े ही श्रद्धाभाव से किया था।^{४३} इससे प्राचीन कालीन मथुरा में जैन धर्म की अभ्युन्नति में महिलाओं की महत्ता पर प्रकाश पड़ता है।

प्राचीन मथुरा में जैन धर्म के दो सम्प्रदायों दिगम्बर तथा श्वेताम्बर का भेदभाव नहीं दिखायी पड़ता। मौर्य काल में भारत का पाश्चात्य देशों से सम्पर्क बढ़ने के कारण तत्कालीन भारत के प्रमुख धर्मों में अपने सिद्धान्तों को लिपिबद्ध करने की भावना उद्भूत हुई। जैन आगमों को लिपिबद्ध करने के लिए प्रसिद्ध सरस्वती आन्दोलन का सूत्रपात मथुरा से ही हुआ^{४४}। बाद में यही सम्पूर्ण भारत में व्यापक हो गया। इस आन्दोलन के फलस्वरूप प्रथम शताब्दी से ही जैन ग्रन्थों को लिपिबद्ध किया जाने लगा। जैन सूत्रों का संस्करण करने के लिए मथुरा में अनेक जैन श्रमणों का संघ उपस्थित हुआ था जिसके अध्यक्ष आर्य स्कन्दिल थे। यह सम्मेलन माथुरी वाचना के नाम से प्रसिद्ध है।^{४५} देवी सरस्वती की प्राचीनतम प्रतिमा कंकाली से मिली है, जो आजकल लखनऊ संग्रहालय में है। मथुरा में ई० प्रथम शती में देवी सरस्वती को सर्वप्रथम मूर्त रूप प्रदान करना जैनियों की उक्त चेतना का प्रतीक है जिसकी परम्परा अगली शताब्दियों में जारी रही।^{४६}

मथुरा से प्राप्त मूर्ति-शिल्प से ज्ञात होता है कि गुप्तकाल में जैन मूर्ति-शिल्प में अनेक आयाम जुड़े। यक्ष-यक्षियों तथा शासन देवियों आदि का अंकन गुप्तकाल में शुरु हुआ जो मध्यकाल तक चलता रहा। तीर्थकरों की भी कलात्मक प्रतिमाएँ मध्यकाल तक पायी जाती हैं।

'विविध तीर्थकल्प' से ज्ञात होता है कि ८वीं शताब्दी में ग्वालियर के राजा आमराज के गुरु वप्पभट्टसूरि ने मथुरा तीर्थ का पुनरुद्धार किया। उन्होंने पत्थरों से परिवेष्टित प्राचीन जैन स्तूप की मरम्मत करवायी।^१ मध्यकाल से बहुसंख्यक कलावशेष मथुरा तथा उसके आस-पास से प्राप्त हुए हैं। तत्कालीन पुरावास्तु से ज्ञात होता है कि इस काल तक मथुरा के अतिरिक्त बटेश्वर (आगरा) भी जैन धर्म का महत्त्वपूर्ण केन्द्र हो गया था। १६ वीं शताब्दी में अकबर के काल तक मथुरा जैन स्तूपों के जीर्णोद्धार का केन्द्र बना रहा। आज भी चौरासी नामक ऐतिहासिक स्थल जैनियों का प्रमुख तीर्थ स्थल बना हुआ है। जहाँ आज भी जैन धर्म के आयोजन होते रहते हैं।

वस्तुतः मथुरा का जैन समाज प्राचीन काल से ही सहिष्णुता का आदर्श रहा है। जब पूरे देश में दिगम्बर और श्वेताम्बर सम्प्रदायों में बँटकर जैन धर्म जड़ता को प्राप्त हो रहा था तब भी कुछ शताब्दियों तक मथुरा में इस प्रकार का कोई संघर्ष नहीं दिखायी पड़ता। यहाँ सैकड़ों वर्षों तक यह प्रयास रहा कि दिगम्बर आमनाय तथा श्वेताम्बर आमनायों की खाई पाट दी जाय।^२ यहाँ का वास्तु भी हमें उदार विचारधारा का संकेत देता है। कंकाली से जैन वास्तु के अलावा ब्राह्मण एवं बौद्ध धर्म से सम्बन्धित मूर्तियाँ भी प्रचुर संख्या में मिली हैं, यथा- बलराम, कार्तिकेय, सूर्य, बुद्ध तथा बोधिसत्व आदि की मूर्तियाँ। इससे स्पष्ट है कि प्राचीन काल में धार्मिक संकीर्णता यहाँ नहीं थी। यही धार्मिक सहिष्णुता किसी न किसी रूप में आज भी जैन समाज में मिलती है।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट होता है कि प्राचीन ब्रज में जैन धर्म की जड़ें काफी मजबूती से गहरे तक जमी थीं। जैन धर्म के इतिहास में देवनिर्मित स्तूप के कारण यह स्थल और भी महत्त्वपूर्ण हो गया था। जैन धर्म की प्रभावशीलता का ज्ञान हमें साहित्य एवं पुरातत्त्वों दोनों से प्राप्त होता है। जहाँ प्राचीन काल में कंकाली स्थल जैन तीर्थ था, वहीं अद्यतन जैन चौरासी स्थल। इस प्रकार जैन धर्म का ब्रज में गौरवशाली इतिहास रहा है जिसकी महत्ता अन्य धर्मों से कम करके आँकना अन्याय होगा। बल्कि यह कहा जा सकता है कि अन्य धर्मों की अपेक्षा ब्रज में जैन धर्म की जड़ें ज्यादा मजबूत थीं।

सन्दर्भ :

१. सिंह, शिव प्रसाद, 'धर्म एवं कला का तीर्थ: मथुरा', साहित्यधर्मिता, भारती संस्थान, जौनपुर, ३६ वाँ अंक, १९९६, पृ०-२६
२. अग्रवाल, वासुदेव शरण, जैन धर्म और ब्रज, ब्रज वैभव, भारती अनुसंधान भवन, मथुरा, १९७२, पृ०-८१

३० : श्रमण, वर्ष ५८, अंक ४/अक्टूबर-दिसम्बर २००७

३. श्रीवास्तव, कृष्णचन्द्र, प्राचीन भारत की संस्कृति, यूनाइटेड बुक डिपो, इलाहाबाद, १९८५, पृ०-३८०
४. जैन, हीरालाल, भारतीय संस्कृति में जैन धर्म का योगदान, म०प्र० शासन, साहित्य परिषद्, १९६२, पृ०-३४२-४३
५. यादव, बी०एन.एस० तथा गोपाल, एल०, भारतीय संस्कृति, इलाहाबाद, पृ०-१४४
६. शर्मा, आर०सी०, 'ब्रज का प्राचीन जैन तीर्थ: कंकाली स्थल', श्री १००८ जम्बूस्वामी दि० जैन स्मारिका, मथुरा, पृ०-१
७. बृहत्कल्पभाष्य १-१७७४, पुनश्च द्रष्टव्य, प्रेमी अभिनन्दन ग्रन्थ, पृ०-२६२
८. उत्तराध्ययनचूर्णि, पृ० ८२
९. महापुराण, पर्व १६ श्लोक १५५, पुनश्च द्रष्टव्य, मित्तल प्रभुदयाल, ब्रज के धर्म सम्प्रदायों का इतिहास, पृ०-५४
१०. शर्मा, आर० सी० मथुरा संग्रहालय परिचय, पृ० - १
११. शर्मा, आर० सी० 'ब्रज का प्राचीन जैन तीर्थ कंकाली स्थल, श्री १००८ जम्बूस्वामी दि० जैन स्मारिका, मथुरा, पृ०-१
१२. जैन, हीरालाल, भारतीय संस्कृति में जैन धर्म का योगदान, पृ०-२०
१३. महाभारत, अनुशासन पर्व, अ० १४९, श्लोक ५०, ८०
१४. मित्तल प्रभुदयाल, ब्रज के धर्म सम्प्रदायों का इतिहास, पृ०- ४७
१५. मथुरा संग्रहालय सं० ३४.२४९८
१६. बाजपेयी, कृष्णदत्त, ब्रज का इतिहास (द्वितीय भाग) पृ०-१५
१७. जैन ज्योति प्रसाद, 'मथुरा में जैन धर्म का उदय और विकास', ब्रज भारती, वर्ष १५, अंक २, पृ०-१-५, बाजपेयी कृष्णदत्त, वही, पृ०-१५
१८. शर्मा, आर० सी० मथुरा संग्रहालय परिचय, पृ० - १
१९. जैन, ज्योति प्रसाद, उत्तर प्रदेश और जैन धर्म, पृ०-५३
२०. शर्मा, आर० सी० मथुरा संग्रहालय परिचय, पृ०-३, शास्त्री जिनेन्द्र कुमार, इतिहास के प्रकाश में जैन धर्म और मथुरा, पञ्जाल, खण्ड-८, १९९५, पृ०-१०७
२१. व्यवहारभाष्य, ५, २७-२८, प्रेमी अभिनन्दन ग्रन्थ, पृ०- २६२
२२. मोतीचन्द्र 'कुछ जैन अनुश्रुतियाँ और पुरातत्त्व', प्रेमी अभिनन्दन ग्रन्थ, पृ०-२४४
२३. ब्रज भारती, वर्ष ११, अंक २ में प्रकाशित श्री अगरचन्द्र नाहटा के लेख से साभार उद्धृत: मित्तल प्रभुदयाल, ब्रज के धर्म सम्प्रदायों का इतिहास, पृ०- ५६
२४. जैन, हीरालाल, भारतीय संस्कृति में जैन धर्म का योगदान, पृ०-३५
२५. लखनऊ संग्रहालय, सं० जे० २०

२६. अग्रवाल, वासुदेव शरण, 'जैन धर्म एवं ब्रज', ब्रज वैभव, पृ०-८२
२७. अग्रवाल, वासुदेव शरण, भारतीय कला, पृ०-२२६
२८. शर्मा, आर० सी० मथुरा संग्रहालय परिचय, पृ०-४
२९. तिवारी, एम०एन०पी०, जैन प्रमिमा विज्ञान, पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान, वाराणसी, १९८१, पृ०-८
३०. शर्मा, आर० सी० मथुरा संग्रहालय परिचय, पृ०-५
३१. शाह, यू०पी०, स्टडीज इन जैन आर्ट, पृ०-९
३२. अग्रवाल, वासुदेव शरण, ब्रज वैभव, पृ०-८२
३३. श्रीवास्तव, ए०एल०, प्राचीन भारतीय देवमूर्तियाँ, लखनऊ, १९९८, पृ०-९६
३४. शर्मा, आर०सी०, 'श्री ऋषभनाथ और उनकी मूर्ति परम्परा, ऋषभ सौरभ, दिल्ली, १९९४, पृ०-५१
३५. श्रीवास्तव, ए०एल०, प्राचीन भारतीय देवमूर्तियाँ, पृ०-९७
३६. बाजपेयी कृष्णदत्त, ऋषभ सौरभ, दिल्ली, १९९४, पृ०-१७
३७. जैन, यशपाल, प्रेमी अभिनन्दन ग्रन्थ, पृ०-२६२
३८. आर्क्योलॉजिकल सर्वे रिपोर्ट, भाग ३, प्लेट्स १३-१५, व्यूहलर, दि इण्डियन सेक्ट आव दि जैन्स, पृ०-४२-४३, जैन, यशपाल, वही, पृ०-२६२
३९. बाजपेयी कृष्णदत्त, ऋषभ सौरभ, दिल्ली, १९९४, पृ०-१७
४०. अग्रवाल, वासुदेव शरण, भारतीय कला, पृ०-८३
४१. मथुरा संग्रहालय, सं० क्यू० २
४२. बाजपेयी कृष्णदत्त, ऋषभ सौरभ, दिल्ली, १९९४, पृ०-१७
४३. अग्रवाल, वासुदेव शरण, भारतीय कला, पृ०- ८३-८४, बाजपेयी, कृष्णदत्त, वही, पृ०-१७-१८
४४. शर्मा, आर०सी०, ब्रज का प्राचीन तीर्थ कंकाली स्थल, श्री १००८ जम्बूस्वामी दि० जैन स्मारिका, मथुरा, पृ०-२
४५. नन्दिचूर्णि, पृ०-८ प्रेमी अभिनन्दन ग्रन्थ, पृ०-२६३
४६. बाजपेयी कृष्णदत्त, ऋषभ सौरभ, दिल्ली, १९९४, पृ०-१९
४७. वही, पृ० २५
४८. शर्मा, आर०सी०, ब्रज का प्राचीन तीर्थ कंकाली स्थल, श्री १००८ जम्बूस्वामी दि० जैन स्मारिका, मथुरा, पृ०-७

मध्ययुगीन संत-काव्य में जैन न्याय की निक्षेप-पद्धति

साध्वी डॉ० अर्चना*

‘निक्षेप’ शब्द जैन दर्शन का पारिभाषिक व लाक्षणिक शब्द है। जैन दर्शन परम्परा में न्याय की अनेकान्त प्रणाली रही है। द्रव्य या प्रकृति के तत्त्वों के शोध और उसके प्रतिपादन में यह सतर्कता रखी गई है जिससे जैनों के दृष्टिकोण के सम्बन्ध में कोई भ्रान्ति न उत्पन्न हो सके। निक्षेप शब्द एवं अर्थ को समझने की एक पद्धति विशेष है। किस अवसर पर किस शब्द का क्या अर्थ करना और उस अर्थ के अनुसार कैसा व्यवहार करना, इस कला को निक्षेप कहा गया है। वक्ता के अभिप्राय को सरल करने की यह अद्भुत कला है। भाषा और भाव की संगति निक्षेप द्वारा की जाती है। इसका अपर न्यास भी है।

परस्पर के समस्त व्यवहारों व हृदय के भावों को व्यक्त करने का मुख्य साधन भाषा है, भाषा का सहयोग और शब्द प्रयोग का माध्यम मनुष्य को स्वीकार करना पड़ता है। संसार में हजारों प्रकार की भाषाएँ हैं, उन भाषाओं के शब्द हजारों ही प्रकार के हैं। प्रत्येक भाषा के शब्द अलग-अलग होते हैं। भाषा ज्ञान के लिए शब्द ज्ञान और शब्द ज्ञान के लिए भाषा ज्ञान का होना आवश्यक है। व्याकरण शास्त्रानुसार अवयवी के ज्ञान के लिए अवयव का ज्ञान आवश्यक होता है।

संस्कृत व्याकरण के अनुसार नाम, आख्यात, उपसर्ग और निपात आदि शब्द अनेक प्रकार के होते हैं। घट, पट आदि नाम शब्द हैं। पठति, गच्छति आदि आख्यात शब्द हैं। प्र व प्ररा आदि उपसर्ग और निपात शब्द हैं। निक्षेप का सम्बन्ध केवल वस्तुवाचक शब्द से रहता है। व्याकरण के अनुसार वस्तुवाचक शब्द नाम ही होता है। अतः वस्तु तत्त्व को शब्दों में रखने, उपस्थित करने अथवा वर्णन करने की चार शैलियाँ व उसके नाना भेद-प्रभेदों का वर्णन आगमों में हुआ है जिन्हें निक्षेप कहते हैं।^१

महान दार्शनिक आचार्य सिद्धसेन दिवाकर ने ‘सन्मत्तिसूत्र’ में कहा है - ‘नाम, स्थापना और द्रव्य - ये द्रव्यास्तिक नय के निक्षेप हैं। भाव पर्यायास्तिक नय

* जैन भवन, पोस्ट-बराड़ा (अम्बाला), हरियाणा-१३३२०१

की प्ररूपणा है, यह परमार्थ है।^{१३} निक्षेप सिद्धान्त के अनुसार प्रत्येक शब्द अनेक अर्थ वाला होता है, परन्तु कम से कम चार अर्थ तो प्रत्येक शब्द के होते ही हैं। इसलिए शब्द का यथार्थ अर्थ समझकर उसका प्रयोग करना निक्षेप का प्रयोजन है। अप्रस्तुत अर्थ का निराकरण करके प्रस्तुत अर्थ को बतलाना, जैसे- किसी ने कहा कि गुरु तो मेरे हृदय में हैं। यहाँ पर गुरु शब्द का अर्थ गुरु व्यक्ति का ज्ञान लेना होगा, क्योंकि देहधारी गुरु किसी के हृदय में कैसे रह सकता है? अतः उक्त वाक्य से गुरु का ज्ञान, यह अर्थ प्रस्तुत है, न कि स्वयं गुरु व्यक्ति। इस प्रकार अप्रस्तुत अर्थ को दूर करके प्रस्तुत अर्थ का ज्ञान निक्षेप करा देता है। व्याकरण के अनुसार शब्द और अर्थ परस्पर सापेक्ष होते हैं। यद्यपि शब्द और अर्थ दोनों स्वतन्त्र पदार्थ हैं, तथापि उन दोनों में एक प्रकार सम्बन्ध स्थापित होता है इसी को वाच्य-वाचक सम्बन्ध कहा जाता है। इस सम्बन्ध का परिज्ञान होने पर ही शब्द का सम्यक् प्रयोग किया जा सकता है। इस दृष्टि से निक्षेप का सिद्धान्त वह सिद्धान्त है जिससे शब्द के अर्थ को समझने की कला का ज्ञान होता है। निक्षेप के चार प्रकार हैं-

१. नाम २. स्थापना ३. द्रव्य ४. भाव

नाम निक्षेप

लोक-व्यवहार चलाने के लिए गुण-अवगुण की अपेक्षा न रखते हुए किसी वस्तु, वाच्य या व्यक्ति का कुछ भी नाम व संज्ञा रख लेना नाम निक्षेप कहलाता है। जैसे- किसी बालक की चार भुजाएं नहीं हैं, किन्तु उसका नाम चतुर्भुज रख देना।

स्थापना निक्षेप

वस्तु या व्यक्ति की प्रतिकृति, मूर्ति अथवा चित्र में अरोपित करना स्थापना निक्षेप है। इसके दो भेद हैं- तदाकार स्थापना (मूर्ति अथवा चित्र) और अतदाकार स्थापना (व्यक्ति अपने मन में इष्ट का आरोप कर लेता है जैसे गोल पत्थर को शालिग्राम मान लेना आदि)

द्रव्य निक्षेप

किसी वस्तु या व्यक्ति की भूतकालीन अथवा भविष्यत्कालीन पर्याय को वर्तमान काल में व्यवहार करना, जैसे कोई व्यक्ति पहले सेवा में कर्नल रह चुका है या होने वाला है उसे कर्नल कहना।

भाव निक्षेप

जिस अर्थ में शब्द की व्युत्पत्ति या प्रवृत्ति ठीक-ठीक घटित हो वह भाव निक्षेप है अर्थात् जिस वस्तु की पर्याय वर्तमान में विद्यमान है उसे तदानुसार कहना

भाव निक्षेप है- जैसे - लकड़ी को लकड़ी कहना, जलकर जब वह कोयला बन जाए तब कोयला कहना और कोयला भी जब राख बन जाए तब राख कहना।

वस्तुतः द्रव्य का स्वरूप नाना प्रकार का है उसको सम्यक् रूप से कथित करने के लिए इस पद्धति को अपनाया जाता है।

संत-काव्य में निक्षेप

संतों की अनुभूतियों की अभिव्यक्ति तथा अव्यक्त चेतना अर्थात् परमतत्त्व का प्रतिपादन निक्षेप-पद्धति के आधार पर हुआ है। संतों का उपदेश किसी एक धर्मग्रन्थ पर आधारित न होकर निज अन्वय पर आधारित होता है। उनकी दृष्टि दार्शनिक से भी अधिक सत्यान्वेषी होती है। आत्मा-परमात्मा विषयक जिज्ञासा उन्हें अनुभूति के गहन समुद्र में अवगाहन करने के लिए विवश करती है। उनके जीवन में सत्य का प्रकाश होता है और उस अव्यक्त तत्त्व का साक्षात्कार उन्हें होता है।^३ कबीर ने स्पष्ट कहा है कि 'मुझे चिन्तन करते-करते ही उस निर्मल जल (परमतत्त्व) की प्राप्ति हो गई जिसका वर्णन मैं अपने शब्दों में करने जा रहा हूँ'^४

अब समस्या यह उत्पन्न होती है कि जिस अव्यक्त तत्त्व का साक्षात्कार उन्हें अनुभूति के आलोक में होता है, उसको व्यक्त किस प्रकार करें? चूंकि संसार में सभी व्यवहार तथा विचारों का आदान-प्रदान भाषा द्वारा ही होता है। जैसा कि ऊपर हम लिख चुके हैं कि भाषा शब्दों द्वारा निर्मित होती है। एक ही शब्द प्रयोजन तथा प्रसंगवश अनेक अर्थों में प्रयुक्त होता है। प्रत्येक शब्द के कम से कम चार अर्थ होते हैं। अतः सिद्ध हुआ जो अर्थ कोश में एक ही अर्थ का द्योतक है निक्षेप करने से उस शब्द के भी चार अर्थ होते हैं। स्वानुभूति को जन-जन के समक्ष व्यक्त करने के लिए मध्ययुगीन अनुभवी संतों ने निक्षेप का अवलम्बन लेकर उस परमतत्त्व को चार प्रकार से प्रतिपादित किया है।

नाम निक्षेप

लोक-व्यवहार में मध्यकालीन संतों ने परमतत्त्व का सम्बोधन नाम निक्षेप के आधार पर 'राम'^५ शब्द से किया है। अन्यत्र भी संतों ने उस अव्यक्त तत्त्व को अलख, निरजंन, निर्भय, निराकार, शून्य तथा स्थूल से भिन्न अथवा दृश्य और अदृश्य से विलक्षण के रूप माना है^६ तथा ब्रह्म परमहंस, विष्णु, महेश, ब्रह्मा व गोविन्द आदि नामों से पुकारा है।

स्थापना निक्षेप

संतों ने स्थापना निक्षेप के द्वारा अपने मन में व हृदय मन्दिर में अपने इष्ट की साकार छवि की अतदाकार स्थापना करके ध्यान करने का निर्देश भी दिया है। कबीर

साहब एक स्थान पर अपने इष्ट को सारंगपाणि (घनुषधारी) के रूप में हृदय मन्दिर में प्रतिष्ठित करके उसकी उपासना करते हुए कहते हैं-

हौ जांचौ सो केवल राम, आन देव सूं नाहि काम ।
जाके सूरज कौटि कटै परकास, कोटि महादेव गिरिकविलास ।।

* * * * *

दास कबीर भजि सारंगपान, देहु अभै पद मांगौ दान ।।^{१०}

मध्ययुगीन निर्गुणधारा के सभी संत कवि निराकार ब्रह्म के उपासक होने के पश्चात् भी साकार उपासना के श्रद्धालु भी रहे हैं। डॉ. प्रताप सिंह चौहान का यह कथन नितान्त सार्थक है कि 'संत जितनी निराकार पर श्रद्धा रखते थे उतनी साकार पर भी श्रद्धा रखते थे। संतों की बाह्य साधना नाम-रूपात्मक है और उनकी अन्तस्साधना ध्यानपरक होने के कारण निराकारवादी और निर्विकल्प है। संत मत के एक महात्मा मल्लूकदास द्वारा रचित राम-सीता के मूर्ति-विग्रह हमने उनके वंशजों के पास देखे हैं। संतकाव्य के मर्मज्ञ विद्वान् डॉ० राममूर्ति त्रिपाठी के अनुसार भी मध्ययुगीन संत निर्गुण व सगुण उभयात्मक विचारों के पक्षधर थे।^{११} उक्त साक्ष्य के आधार पर हम निःसंकोच कह सकते हैं कि संत तदाकार और अतदाकार दोनों स्थापना निक्षेप द्वारा ब्रह्म की उपासना के पक्षधर रहे हैं।

द्रव्य निक्षेप

परमात्मा से पूर्व की पर्याय आत्मा है। प्रत्येक आत्मा में परमात्मा बनने की योग्यता है लेकिन जब तक आत्मा माया, अविद्या व कर्म के पाश में आबद्ध है तब तक वह जीवात्मा है। जिस दिन वह इन पाशों से मुक्त हो जाएगी, वह परमात्मा स्वरूप हो जाएगी। संतों की यह व्याख्या-आत्मा ही परमात्मा है, द्रव्य निक्षेप पर आधारित है। परमात्मा जीवात्मा की आगामी योग्यता है। संत दादू की वाणी में -

करमों के बस जीव है, करम रहित से ब्रह्म ।
जहं आतम तहं परमात्मा, दादू भागा भर्म ।।^{१२}

संत रज्जब भी कहते हैं :

रज्जब जीव ब्रह्म अन्तर इतना, जिता-जिता अज्ञान।
है नाहीं निर्णय भया, परदे का परवान ।।^{१३}

भाव निक्षेप

परमतत्त्व के साक्षात्कार हेतु संतों ने ध्यान-साधना, जप-साधना और नाम-साधना की प्रेरणा सर्वत्र देकर जन-जन को लाभान्वित किया है। ध्याता ध्यान द्वारा

जब ध्येय (परमात्मा) से अभिन्न अनुभव करता है उस अवस्था का प्रतिपादन जैन सिद्धान्त में भाव निक्षेप द्वारा हुआ है। संत कबीर व अन्य संतों ने ध्यान का वर्णन इसी शैली में प्रस्तुत किया है। एक स्थान पर कबीर लिखते हैं- अज्ञानावस्था में जिसे मैं अपने से भिन्न कहता था, ज्ञानालोक में अर्थात् ध्यान द्वारा वह परमतत्त्व-परमात्मा अभिन्न हो गया। यथा-

जा कारणि मै जाइ था, सोई पाई ठौर ।

सोई फिरि आपण भया, जासू कहता और ॥^{२२}

मृत्तिका समाह रही भाजन रे रूप मांहि ।

मृत्तिका कौ नाम मिटि भाजन ही गहयौ है ॥^{२३}

अन्य संतों ने भी स्व-कथन का प्रतिपादन निक्षेप-पद्धति से किया है किन्तु विस्तार भय से हम सबका उल्लेख नहीं रहे हैं। उक्त विवेचना के आधार पर यह सिद्ध हो गया है कि संत साहित्य में द्रव्य/पदार्थ, प्राकृतिक तत्त्वों व सिद्धान्तों का विवेचन निक्षेप योजना द्वारा हुआ है। आचार्य परशुराम चतुर्वेदी की पुस्तक 'कबीर साहित्य की परख' के अन्तर्गत कबीर साहित्य और कबीर पंथी साहित्य की विवेचना में 'निक्षेप सत्य-ज्ञान-दर्शन' (पृ०-७३) जैसे रचना का उल्लेख हुआ है। जिसके आधार पर हम निःसंकोच कह सकते हैं कि कबीर की सिद्धान्त विवेचना निक्षेप युक्त है। अन्य संतों ने भी कबीर-पद्धति का ही अनुसरण किया है।

जिस प्रकार जैन दर्शन में द्रव्य या प्रकृति तत्त्वों की मीमांसा निक्षेप, प्रमाण व नय के माध्यम से हुई है उसी प्रकार संतों के काव्य में भी न्यायपूर्ण मीमांसा हुई है। अन्तर इतना है कि जैन न्याय-प्रणाली व्यवस्थित है जब कि संत-काव्य में कोई व्यवस्थित विवेचना नहीं है। संत किसी एक दार्शनिक परम्परा से बंध कर नहीं चले उनकी दृष्टि महत्त्वपूर्ण थी। उन्हें जहाँ अच्छा विचार ग्राह्य लगा उन्होंने उसे अपनाने में संकोच नहीं किया। हमने प्रस्तुत लेख में मध्ययुगीन बहुश्रुत कवियों के काव्य को जैन न्यायशास्त्र की जटिल व गंभीर शैली निक्षेप-पद्धति के आलोक में देखा-परखा है। मध्ययुगीन निर्गुण संत कवि पण्डित व शास्त्रज्ञ नहीं थे, यदि वे तार्किक व विद्वान् होते तो इस शैली के परिप्रेक्ष्य में अपने कथन को गहनता से प्रस्तुत करते। किन्तु संभावना यह भी है कि संतों की सहजता व सरलता समाप्त हो जाती। वे ज्ञानी तो हो जाते, परन्तु कवि न रह पाते और काव्य के कंधों पर बिना चढ़े न्यायशास्त्र की निक्षेप शैली जनसाधारण तक नहीं पहुँच पाती।

सन्दर्भ :

१. अनुयोगद्वारसूत्र, ८
तत्त्वार्थसूत्र, १/५
२. सन्मत्तिसूत्र, १/६
३. करत विचार मन ही मन उपजी, नां कही गया न आयो।
कहै कबीर संसा सब छूटो, राम रतन धन पायो ॥
कबीर ग्रन्थावली पद-२३, पृ० ४९
४. चेतन-चेतन निकिसिओ नीरु।
सोजल निरमलु कथत कबीरु॥ वही
५. क्यंचित जोग राम मैं जानां ॥
कबीर कहै मै कथि गया, कथि गया ब्रह्म महेस ।
राम नाम तत सार है, सब काहू उपदेश ॥
चतुर्वेदी, परशुराम, संतकाव्य के प्रेरणास्रोत, पृ० १३२
६. अलख निरंजन लखै न कोई, निरमै निराकार है सोई ।
सुनि असथूल रूप नहीं रेखा, द्विष्टि अद्विष्टि छिप्यो नहीं पेखा॥
कबीर ग्रन्थावली, रमैणी-११, पृ० - ५४२
७. वही, पद - ३४०, पृ० ४५६
८. चौहान, प्रताप सिंह, संतमत, प्राक्कथन, पृ० ६
९. तंत्र और संत, पृ० ३१८
१०. दादू दयाल की बानी, भाग-१, पद -२१, पृ० २१
११. संत-काव्य : पृ०- ३७९
१२. कबीर ग्रन्थावली, सा० -३७, पृ० ८६
१३. सुन्दर ग्रन्थावली, भाग-१, सवैया - ४ (अंग - ३३)



जैन दर्शन में प्रत्यभिज्ञान प्रमाण

डॉ० भूपेन्द्र शुक्ल*

जैन दर्शन में सम्यक्-ज्ञान ही प्रमाण है। आचार्य हेमचन्द्र ने 'प्रमाणमीमांसा' में लिखा है- सम्यगर्थनिर्णयः प्रमाणम् ।^१ प्रमाण का विभाजन जैन नैयायिकों ने कई प्रकार से किया है। प्राचीन जैन साहित्य में हमें पंचज्ञान की चर्चा मिलती है- मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्यव और केवलज्ञान। आचार्य उमास्वाति, जिनका समय ईसा की पहली से तीसरी शती माना जाता है, ने इन्हीं पंचज्ञानों को परोक्ष और अपरोक्ष प्रमाण के रूप में विभाजित करते हुए कहा कि यही पंचज्ञान प्रमाण हैं। लेकिन बाद के आचार्यों ने प्रमाण की स्वतंत्र रूप से व्याख्या की। किन्तु उन्होंने भी ज्ञान और प्रमाण की अभिन्नता को अस्वीकार नहीं किया। क्योंकि जैन दर्शन में ज्ञान को स्व-पर प्रकाशक माना गया है।

आचार्य हेमचन्द्र ने प्रमाण का विभाजन विशदता तथा अविशदता के आधार पर करते हुए कहा है कि जो निर्णय विशद् या स्पष्ट हो वह प्रत्यक्ष प्रमाण है;^२ और जो निर्णय अविशद् हो अर्थात् जिसकी उत्पत्ति में दूसरे प्रमाण की अपेक्षा हो वह परोक्ष प्रमाण है।^३ इसका तात्पर्य यह है कि प्रत्यक्ष की तरह परोक्ष प्रमाण भी सम्यक् निर्णय रूप होता है, किन्तु प्रत्यक्ष प्रमाण विशद् होता है। दोनों ही प्रमाणों के स्वरूप में यही अन्तर है। आचार्य हेमचन्द्र ने अपनी 'प्रमाणमीमांसा' में परोक्ष प्रमाण के पाँच भेदों- स्मृति, प्रत्यभिज्ञान, तर्क (ऊह) अनुमान और आगम का उल्लेख किया है।^४

जैन नैयायिकों ने स्मृति, प्रत्यभिज्ञान एवं तर्क को पृथक् प्रमाण के रूप में प्रतिष्ठित किया है। प्रत्यभिज्ञान प्रमाण एक संकलनात्मक ज्ञान है, जिसमें दो प्रकार के अनुभव प्रत्यक्ष और स्मरण का समावेश होता है। प्रथम अनुभव वर्तमान काल का होता है तथा दूसरा भूतकाल का। जिस ज्ञान में प्रत्यक्ष और स्मरण इन दोनों का संकलन रहता है, वह ज्ञान प्रत्यभिज्ञान कहलाता है।^५ आचार्य विद्यानन्द ने प्रत्यभिज्ञान के दो भेद- एकत्व प्रत्यभिज्ञान तथा सादृश्य प्रत्यभिज्ञान किया है,^६ जबकि माणिक्यनन्दी^७ ने प्रत्यभिज्ञान प्रमाण की उपरोक्त परिभाषा का समर्थन कर उसके चार प्रकारों- एकत्व प्रत्यभिज्ञान, सादृश्य प्रत्यभिज्ञान, वैसादृश्य प्रत्यभिज्ञान और प्रातियोगिक प्रत्यभिज्ञान का निरूपण किया है।

* पूर्व शोध छात्र, दर्शन एवं धर्म विभाग, का०हि०वि०वि०, वाराणसी

वर्तमान का प्रत्यक्ष करके उसी के अतीत का स्मरण होने पर 'यह वही है' इस प्रकार का जो संकलनात्मक ज्ञान होता है, वह एकत्व प्रत्यभिज्ञान है। यहाँ 'यह' का प्रत्यक्ष होता है और 'वह' का स्मरण किया जाता है। इसी प्रकार 'गाय' के समान गवय होता है। इस वाक्य को सुनकर कोई व्यक्ति वन में जाता है और सामने गाय के समान पशु का अवलोकन करके उस वाक्य का स्मरण करता है और फिर निश्चय करता है कि यह पशु गवय है। इस प्रकार के सादृश्य विषयक संकलन को सादृश्य प्रत्यभिज्ञान कहते हैं। 'गाय से विलक्षण भैंस होती है।' इस प्रकार के वाक्य को सुनकर जिस पशु वाड़ा में गाय और भैंस दोनों वर्तमान हैं वहाँ जाने वाला व्यक्ति गाय से विलक्षण पशु को देखकर उस वाक्य को स्मरण करता है और निश्चय करता है 'यह भैंस है' इस विलक्षण विषयक संकलन को वैसादृश्य प्रत्यभिज्ञान कहते हैं। इसी प्रकार अपने समीपवर्ती गृह के प्रत्यक्ष के उपरान्त दूरवर्ती पर्वत को देखने पर पूर्व का स्मरण करके जो 'यह इससे दूर है' इस प्रकार का आपेक्षिक ज्ञान होता है वह प्रतियोगिक प्रत्यभिज्ञान कहलाता है। अकलंक ने प्रत्यभिज्ञान को परिभाषित करते हुए कहा है कि जब पहले से अनुभव किये हुए अतीत के अर्थ का पुनः प्रत्यक्ष होता है तो व्यक्ति उसका प्रत्यभिज्ञान करता है। दूर-निकट आदि का ज्ञान प्रत्यभिज्ञान के द्वारा ही होता है।^१ जैन दर्शन ने उपमान प्रमाण का अन्तर्भाव प्रत्यभिज्ञान प्रमाण में किया है।^१

वादिदेवसूरि ने अनुभव एवं स्मृति से उत्पन्न तथा तिर्यक् सामान्य व उर्ध्वता सामान्य को विषय करने वाले संकलनात्मक ज्ञान को प्रत्यभिज्ञान कहा है।^{१०} इसमें प्रत्यभिज्ञान के कारण, उसके विषय एवं स्वभाव का निर्देश हो गया है।^{११} 'प्रमाणमीमांसा' में हेमचन्द्र ने प्रत्यभिज्ञान के लक्षण का निरूपण करते हुए कहा है- प्रत्यक्ष और स्मरण से उत्पन्न होने वाला 'यह वही है', 'यह उसके सादृश्य है', 'यह उससे विलक्षण है' 'यह उससे थोड़ा-बहुत निकट या दूर है' इत्यादि जोड़ रूप ज्ञान प्रत्यभिज्ञान है।^{१२}

जैन दर्शन के अतिरिक्त प्रत्यभिज्ञान शब्द का प्रयोग काश्मीर शैव-दर्शन में आत्म-प्रत्यभिज्ञान के रूप में किया गया है। वहाँ ज्ञात आत्मा को भूलकर पुनः पहचान लेना प्रत्यभिज्ञान है। जैन दर्शन में प्रत्यभिज्ञान के विविध रूपों यथा एकत्व प्रत्यभिज्ञान, सादृश्य प्रत्यभिज्ञान, वैसादृश्य प्रत्यभिज्ञान, प्रातियोगिक प्रत्यभिज्ञान इत्यादि भेदों का वर्णन किया गया है, जबकि काश्मीर शैव दर्शन में केवल एकत्व प्रत्यभिज्ञान को अंगीकार किया गया है, क्योंकि सादृश्य प्रत्यभिज्ञान से एकरूपता का ज्ञान नहीं होता है। शैव दर्शन में प्रत्यभिज्ञान को त्रिविध प्रमाणों (प्रत्यक्ष, अनुमान, शब्द) का मूल माना गया है।^{१३} किन्तु जैन दर्शन में प्रत्यभिज्ञान को स्मृति तथा प्रत्यक्ष का संकलनात्मक ज्ञान माना गया है। शैव दर्शन में प्रत्यभिज्ञान आत्माभिमुख है, किन्तु जैन दर्शन में अर्थाभिमुख स्वीकार किया गया है।^{१४}

बौद्ध दार्शनिक क्षणिकवादी हैं। जिसके कारण वे प्रत्यभिज्ञान को वास्तविक प्रमाण नहीं मानते हैं। अतः 'यह वही है' इस प्रकार की प्रतीति को उन्होंने भ्रान्त बतलाया है।^{१५} वे 'यह वही है' में 'यह' अंश को प्रत्यक्ष और 'वही' अंश को स्मरण से उत्पन्न मानते हैं और उन्हें स्वतंत्र रूप से दो ज्ञान मानकर प्रत्यभिज्ञान प्रमाण का खण्डन करते हैं।

मीमांसकों ने यद्यपि एकत्व-प्रतीति की सत्ता को स्वीकार किया है, किन्तु प्रत्यभिज्ञान को इन्द्रियों के साथ अन्वय-व्यतिरेक सम्बन्ध रखने के कारण, प्रत्यक्ष प्रमाण में ही अन्तर्भूत माना है। उनका कहना है कि स्मरण के उपरान्त अथवा स्मरण के पूर्व जो भी ज्ञान इन्द्रिय और पदार्थ के सम्बन्ध से उत्पन्न होता है, वह सब प्रत्यक्ष है। स्मृति अतीत अस्तित्व का ज्ञान कराती है, प्रत्यक्ष वर्तमान अस्तित्व का और स्मृति सहकृत प्रत्यक्ष अर्थात् दोनों अवस्थाओं में रहने वाले एकत्व का ज्ञान कराती है। किन्तु जब यह निश्चित है कि चक्षु आदि इन्द्रियां सम्बद्ध और वर्तमान पदार्थ को ही विषय करती हैं तब स्मृति की सहायता लेकर भी वे अपने अविषय में प्रवृत्ति किस प्रकार करती हैं? पूर्व और वर्तमान दशा में रहने वाला एकत्व इन्द्रियों का अविषय है। अन्यथा स्मरण की सहायता से चक्षु को गन्ध भी सूँघ लेनी चाहिए। अनेक सहकारियों के मिलने पर भी इन्द्रियां अविषय में प्रवृत्त नहीं हो सकतीं। यह सर्वसम्मत सिद्धान्त है। यदि इन्द्रिय से ही प्रत्यभिज्ञान उत्पन्न होता है तो प्रथम प्रत्यक्ष में ही उसे उत्पन्न होना चाहिए था, फिर इन्द्रियाँ अपने व्यापार में स्मृति की अपेक्षा भी नहीं रखती। मीमांसकों ने सादृश्य को उपमान नामक स्वतंत्र प्रमाण माना है। उनका मत है कि जिस पुरुष ने 'गौ' को देखा है, वह जब जंगल में गवय को देखता है और उसे जब दृष्ट गौ का स्मरण आता है, तब इसके समान वह है, इस प्रकार का उपमान ज्ञान उत्पन्न होता है।^{१६} परन्तु इस प्रकार प्रमाणों की संख्या बढ़ाई जाती है तो (साधारण विषय भेद के कारण) वैसादृश्य आदि प्रमाणों हेतु एक स्वतंत्र प्रमाण को मानना पड़ेगा। अतः एकत्व, वैसादृश्य, प्रातियोगिक आदि सभी संकलनात्मक ज्ञानों को एक प्रत्यभिज्ञान की सीमा में ही रखना चाहिए।

नैयायिक भी मीमांसकों की भाँति 'यह वही है' इस प्रतीति को एक मानकर भी उसे इन्द्रियजन्य ही कहते हैं और युक्ति भी उसी प्रकार देते हैं। किन्तु जब इन्द्रिय प्रत्यक्ष अविचारक है तब स्मरण की सहायता लेकर भी वे कैसे 'यह वही है', 'यह उसके समान है' इत्यादि विचार कर सकते हैं? सम्भवतः जयन्तभट्ट ने इसीलिए यह कल्पना की है कि स्मरण और प्रत्यक्ष के उपरान्त एक स्वतंत्र मानस ज्ञान उत्पन्न होता

है जो एकत्व आदि का संकलन होता है।^{१०} इन्द्रिय सन्निकर्ष से उत्पन्न होने के कारण इसको प्रत्यक्ष प्रमाण माना है। लेकिन यह केवल इन्द्रिय से ही नहीं, बल्कि संस्कार सहकृत इन्द्रिय सामर्थ्य से उत्पन्न होता है।^{११} अतः जैनों ने इन सभी विभिन्न विषयक संकलन ज्ञानों को एक प्रत्यभिज्ञान रूप से प्रमाण माना है।^{१२}

निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि प्रत्यभिज्ञान स्मृति एवं प्रत्यक्ष का संकलन ज्ञान होता है, अतः वह दोनों से भिन्न है। प्रायः हम जिन पदार्थों का प्रत्यक्ष करते हैं वह प्रत्यभिज्ञान ही होता है। व्यावहारिक जीवन में प्रत्यभिज्ञान और प्रत्यक्ष में अन्तर प्रतीत नहीं हो पाता है। किन्तु डा० धर्मचन्द्र जैन ने प्रत्यक्ष और प्रत्यभिज्ञान दोनों में अन्तर करते हुये कहा है कि प्रत्यभिज्ञान में स्मृति निहित रहती है जबकि प्रत्यक्ष में स्मृति का अंश नहीं होता है। अतः इस प्रकार प्रत्यभिज्ञान को जैन दर्शन में स्वतंत्र प्रमाण के रूप में स्थापित किया गया है।

सन्दर्भ :

१. प्रमाणमीमांसा, १.१.२
२. विशदः प्रत्यक्षम्। वही, १.१.१३
३. अविशदः परोक्षम्। वही, १.२.१
४. स्मृतिप्रत्यभिज्ञानोहानुमानागमस्तद्विषयः। वही, १.२.२
५. अनुभवस्मृतिहेतुक संकलनात्मकं ज्ञानं प्रत्यभिज्ञानम्। न्यायदीपिका, पृ० ५६
६. द्विविधं हि प्रत्यभिज्ञानं-तदेवेदमित्येकत्वनिबन्धनम् तादृशमेवेदमिति सादृश्यनिबन्धनं च। प्रमाण परीक्षा, विद्यानन्द, पृ० ४२
७. दर्शनस्मरणकारणकं संकलनं प्रत्यभिज्ञानम्।
तदेवेदं तत्सदृशं तद्विलक्षणं तत्प्रतियोगीत्यादि। परीक्षामुख, ३.५
८. प्रतिभासभिदैकार्थे दूरासात्राक्षबुद्धिवत् - लघीयस्त्रय, ४५
९. सिद्धिविनिश्चय वृत्ति - पृ० १७९
१०. अनुभवस्मृतिहेतुकं तिर्यगूर्ध्वतासामान्यादिगोचरं, संकलनात्मकं ज्ञानं प्रत्यभिज्ञानम्।
प्रमाणयतत्त्वालोक, ३.५
११. जैन, धर्मचन्द्र, बौद्ध प्रमाणमीमांसा की जैनदृष्टि से समीक्षा, पृ० ३०८,
१२. दर्शनस्मरणसम्भवं तदेवेदं तत्सदृशं तद्विलक्षणं तत्प्रतियोगीत्यादिसङ्कलनं प्रत्यभिज्ञानम्। प्रमाणमीमांसा, १.२.४

४२ : श्रमण, वर्ष ५८, अंक ४/अक्टूबर-दिसम्बर २००७

१३. प्रत्यक्षानुमानागममूलां प्रत्यभिज्ञामाश्रित्या ईश्वर प्रत्यभिज्ञा विमर्शिनी, खण्ड-२, पृ० १९५
१४. जैन, धर्मचन्द्र, बौद्ध प्रमाणमीमांसा की जैन दृष्टि से समीक्षा, पृ० ३०९
१५. तस्मात् स एवायमिति प्रतययद्वयमेतत्। प्रमाणवार्तिक, ५
१६. प्रत्क्षेणावबुद्धेऽपि सादृश्ये गवि च स्मृते।
विशिष्टस्यान्यतोऽसिद्धेरुपमानप्रमाणता। मीमांसाश्लोकवार्तिक, उपमान परिच्छेद, ३८
१७. न्यायवार्तिक ता० टी०, पृ० १३८
१८. न्यायमंजरी, भाग-२, पृ० ३३
१९. उपमानं प्रसिद्धार्थसाधर्म्यात्साध्यसाधनं।
तद्वैधर्म्यात् प्रमाणं किं स्यात्संज्ञिप्रतिपादनम्। लघीयस्त्रय, १९

*

हठयोग एवं जैनयोग में प्रत्याहार का स्वरूप : एक तुलनात्मक अध्ययन

डॉ० राज नारायण सिंह*

प्रत्याहार योग-साधना का एक प्रमुख अंग है, जो प्रारम्भिक काल से ही आध्यात्मिक साधना के क्षेत्र में प्रचलित रहा है। 'प्रति' एवं 'आठ' उपसर्गपूर्वक 'ह' धातु से निर्मित प्रत्याहार शब्द का अर्थ है- विरुद्धमार्ग से खींचना अर्थात् इन्द्रियों की बाह्यविषयाभिमुखता का अवरूद्ध होना। प्रत्याहार के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए महर्षि पतंजलि ने कहा है कि चित्त के विषयों से हटने पर या चित्त के आत्माभिमुख होने पर इन्द्रियों की विषयाभिमुखता से निरत होना ही प्रत्याहार है।^१ 'भगवद्गीता' की दृष्टि में इस विषयाभिमुखता में कछुवे के अंग-संकोचन के समान इन्द्रियों की अन्तर्मुखता भी सन्निहित है।^२ प्रत्याहार के सन्दर्भ में हमारे औपनिषदिक वाङ्मय तथा अन्यान्य योगशास्त्रों में विशद् विवेचन उपलब्ध होता है। उपनिषदों में इन्द्रियों को तुरंग (घोड़ों) के रूप में परिलक्षित किया गया है। यम-नचिकेता संवाद में यम ने नचिकेता को समझाया है कि शरीर में जीवात्मा रथ का स्वामी (रथी) है। शरीर ही रथ है, बुद्धि इस रथ का सारथी है, मन लगाम है, इन्द्रियाँ घोड़े हैं, विषय इन घोड़ों के विचरने का मार्ग है। शरीर, इन्द्रिय और मन के साथ चैतन्य जीवात्मा है। जो व्यक्ति सदा विवेकहीन बुद्धि वाला और चंचल मन से युक्त रहता है, उसकी इन्द्रियाँ असावधान सारथी के दुष्ट घोड़ों की भाँति वश में न रहने वाली हो जाती हैं तथा जो सदा विवेकयुक्त बुद्धि तथा वश में किये हुए स्थिर मन से सम्पन्न हैं, उनकी इन्द्रियाँ सावधान सारथी के अच्छे घोड़ों की तरह वश में रहती हैं।^३ 'भगवद्गीता' में भी कहा गया है कि जिस पुरुष की इन्द्रियाँ विषय से निगृहीत हैं, उसी की बुद्धि स्थिर है।^४

इस प्रकार विभिन्न योग-साधना पद्धतियों में प्रत्याहार के स्वरूप का विवेचन हुआ है तथापि प्रस्तुत शोध-निबंध हठयोग और जैनयोग में प्रतिपादित प्रत्याहार के विवेचन तक ही सीमित है।

हठयोग साधना-पद्धति में प्रत्याहार का अपना विशिष्ट व महत्त्वपूर्ण स्थान है। हठयोग साधक आसन, प्राणायाम, मुद्रा इत्यादि चरणों का कुशलतापूर्वक

* पूर्व शोध-छात्र, दर्शन एवं धर्म विभाग, का०हि०वि०वि०, वाराणसी

सम्पादन करते हुए प्रत्याहार की अवस्था तक पहुँचता है, जहाँ उसे अपने इन्द्रियों को उनके विषयों से हटाकर आत्मचिन्तन में मन के साथ जोड़ देना होता है, जिससे धारणा, ध्यान और समाधिरूप अंगों का निर्विघ्न सम्पादन हो सके। इन्द्रियाँ स्वभावतः अपने विषयों की ओर दौड़ती हैं। ध्यान लगाने से पूर्व साधक के लिए यह आवश्यक है कि इन्द्रियों का अपने-अपने विषयों से संसर्ग न हो। यही प्रत्याहार कहलाता है। प्रत्याहार के शाब्दिक अर्थ (प्रति + अहार) से भी यही भाव स्पष्ट होता है कि इन्द्रियों को, जो विषयाभिमुख हैं, उन्हें उनकी स्वाभाविक गति के विपरित कर देना। अर्थात् इन्द्रियों की गति अपने विषयों की ओर न होकर, मन के अधीन हो जाए, ऐसा प्रयत्न ही प्रत्याहार है। इससे यह स्पष्ट है कि सत्य की खोज के लिए इन्द्रियों के माध्यम से होने वाले शक्ति के व्यर्थ व्यय को रोकना आवश्यक है, जो प्रत्याहार से ही सम्भव है। परंतु इस प्रत्याहार को अपनाना अत्यन्त कठिन है। अनवरत अभ्यास, दृढ़-संकल्प और इन्द्रिय-निग्रह के द्वारा ही प्रत्याहार का पालन सम्भव है।

हठयोग-साधना के प्रमुख ग्रन्थ 'सिद्ध-सिद्धान्त-पद्धति' में प्रत्याहार के लक्षण पर विचार करते हुए कहा गया है कि चैतन्य आत्मा के इन्द्रियरूपी घोड़ों के (जिसके शब्द, रूप, रस, स्पर्श और गन्धादि में) प्रत्याहरण से उत्पन्न विकारों का समाप्त हो जाना ही प्रत्याहार है।^४ इन्द्रियों की वश्यता प्राण और मन की स्थिरता पर निर्भर है। हठयोग की साधना में स्पष्ट निर्देश है कि शरीर में प्राण की स्थिरता से ही मन स्थिर होता है। अतः प्राण-साधना इन्द्रियों के प्रत्याहार की दिशा में आवश्यक है। प्रत्याहार की सिद्धि से काम, क्रोध, मद, मत्सर, लोभ और मोह इन छः प्रकार के शत्रुओं का नाश हो जाता है। हठयोग साधना से ही सम्बन्धित एक अन्य ग्रन्थ 'घेरण्ड-संहिता' में कहा गया है कि जहाँ-जहाँ मन जाता है, उसे वहाँ-वहाँ से लौटाकर आत्मा के वश में करना चाहिए, यही प्रत्याहार है।^५

हठयोग-साधना पर आधारित 'विवेक-मार्तण्ड' ग्रन्थ में भी प्रत्याहार के सम्बन्ध में कहा गया है कि रेचक-पूरक-कुम्भक, त्रयक्रमपूर्वक बारह बार प्राणायाम कर वायु को शरीर के भीतर स्थिर करने से मन स्थिर होता है और प्राणायाम के द्वारा इस तरह इन्द्रियों का प्रत्याहार हो जाता है।^६ 'शिव-संहिता' में भी प्रत्याहार के स्वरूप पर प्रकाश डालते हुए कहा गया है कि जब साधक एक प्रहर तक वायु धारण की शक्ति प्राप्त करता है, तब प्रत्याहार होता है। जिस इन्द्रिय के द्वारा जिस विषय का बोध होता है, उसी में आत्मभाव करने से इन्द्रियजय होना ही प्रत्याहार कहलाता है।^७ प्रत्याहार की सिद्धि ही धारणा, ध्यान और समाधि में आत्म-साक्षात्कार अथवा परमपद में स्वरूपावस्थान का सोपान है। 'गोरक्ष-संहिता' में भी प्रत्याहार के सम्बन्ध में इसी तथ्य को प्रतिपादित किया गया है। कहा गया है- चक्षु आदि ज्ञानेन्द्रियों के

विषयों का सम्बद्ध इन्द्रियों द्वारा अनुभव कर यथाक्रम इन्द्रियों को अपने-अपने विषयों से अलग कर देना प्रत्याहार है।^{१०}

भारत में प्रचलित योग-पद्धतियों में जैन योग को अत्यन्त ही आदरणीय स्थान प्राप्त है। जैन योग में भी अन्यान्य योग-पद्धतियों की भाँति प्रत्याहार का विवेचन योग-साधना के एक महत्त्वपूर्ण सोपान के रूप में किया गया है। जैन योग में प्रत्याहार के स्वरूप को 'प्रतिसंलीनता तप' के रूप में व्यक्त किया गया है। 'प्रतिसंलीनता तप' निम्नलिखित चार प्रकारों में विभक्त हुआ है-

- (i) इन्द्रिय प्रतिसंलीनता
- (ii) कषाय प्रतिसंलीनता
- (iii) योग प्रतिसंलीनता और
- (iv) विविक्तशयनासंसेवनता^{११}

श्रौत्रादि इन्द्रियों के विषय-प्रचार को रोकना और प्राप्त शब्दादि विषयों में रागद्वेषरहित होना 'इन्द्रिय प्रतिसंलीनता' है। क्रोध, मान, माया एवं लोभ के उदय को रोकना और उदय होने पर उसे सफल न होने देना, 'कषाय प्रतिसंलीनता' है। अकुशल मन का और अकुशल वाक् का निरोध, कुशल मन और कुशल वाक् की प्रवृत्ति और शारीरिक व्यर्थचेष्टा से या कुप्रवृत्ति से की गई निवृत्ति 'योग प्रतिसंलीनता' में निहित है। यही समिति एवं गुप्ति है। एकान्त में या निर्बाध स्थान में रहना 'विविक्तशयनासन' है। प्रतिसंलीनता के प्रथम एवं द्वितीय प्रकार के साथ प्रत्याहार का साम्य स्पष्ट है। जैनदृष्टि के अनुसार द्वितीय के अभाव में प्रथम प्रकार की प्रतिसंलीनता का कोई मूल्य नहीं है। दूसरे शब्दों में राग-द्वेष आदि विकारों की शान्ति के प्रकाश में ही इन्द्रियों की विषय-विमुखता को साधना के रूप में देखा जा सकता है। स्पष्ट कहा गया है कि आँखों के सामने आते हुए रूप और कानों में पड़ते हुए शब्द आदि विषयों का परिहार शक्य नहीं है, परंतु ऐसे प्रसंगों में साधक राग और द्वेष से दूर रहें।^{१२} अनावश्यक रूप से होने वाले शक्ति के व्यय को टालने के लिए जहाँ इन्द्रिय-निग्रह आवश्यक है, वहाँ भी उस इन्द्रिय-निग्रह की निष्पत्ति अगर राग-द्वेष की शान्ति में होती है तो ही वह इन्द्रिय-निग्रह उचित है।^{१३} इस प्रकार जैन योग प्रतिपादित प्रत्याहार के स्वरूप का सूक्ष्म अध्ययन करने पर स्पष्टतः प्रतिफलित होता है कि जैन योग में इन्द्रियों के तथाकथित दमन पर नहीं, अपितु उनके स्वाभाविक रूप से आत्माभिमुख या अन्तर्मुख होने की प्रवृत्ति पर जोर दिया गया है।

इस प्रकार हठयोग और जैन योग में विवेचित प्रत्याहार के स्वरूप का समीक्षात्मक अध्ययन करने पर यह स्पष्ट होता है कि जहाँ हठयोग के अनुसार चित्त

के निरोध होने पर अर्थात् चित्त के विषयों से हटने पर चित्त की अनुगामी बनी हुई इन्द्रियों का अपने-आप विषयों से विरत होना प्रत्याहार है, वहीं जैन योग के अनुसार विषयों में इन्द्रियों की आवश्यक प्रवृत्ति और निवृत्ति में कषायों का उत्पन्न न होना ही प्रत्याहार है। इसके साथ ही दोनों योग पद्धतियों में योग-साधना के क्षेत्र में प्रत्याहार को इन्द्रिय विजय का महान साधन माना गया है। चित्त की बाह्य क्रियाओं का निरोध और इन्द्रियों के दासत्व से इसे स्वतन्त्र करना ही प्रत्याहार का उद्देश्य है।

सन्दर्भ :

१. योगसूत्र, पतंजलि- २/५८
२. श्रीमद्भगवद्गीता, २/५८
३. कठोपनिषद्, १/३/३-६
४. 'तस्माद्यस्य महाबाहो निगृहीतानि सर्वशः।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता॥' श्रीमद्भगवद्गीता, २/६८
५. 'प्रत्याहारमिति चैतन्यतरङ्गाणां प्रत्याहरणं यथा नानाविकारप्रसन्नोत्पन्नविकारस्यापि
निवृत्तिः निर्भातीति प्रत्याहारलक्षणम्'। सिद्ध-सिद्धांत-पद्धति, २/३६
६. 'यतो यतो मनश्चरति चाञ्चल्यवशतः सदा।
ततस्ततो नियम्यैतदात्मन्येव वशंनयेत्।' घेरण्ड-संहिता, ४/२
७. 'प्राणायामद्विषद्केन प्रत्याहारः प्रकीर्तितः।' विवेकभार्तण्ड, श्लोक संख्या-६/
१०४/१०५
८. यं यं जानाति योगीन्द्रस्तं तस्मात्मेति भावयेत्।
यैरेन्द्रियेयैद्विधानस्तदिन्द्रियजयो भवेत्॥' शिव-संहिता, ३/६८
९. 'चरतां चक्षुरादीनां विषयेषु यथाक्रमम्।
यत्प्रत्याहारणं तेषां प्रत्याहारः सः उच्यते॥' गोरक्ष-संहिता, श्लोक संख्या-१२५
१०. औपपातिकसूत्र, तपोधिकार, ३०
११. भावनायोग : एक विश्लेषण, उद्धृत आनन्दब्रह्मि प्रवचन, पृ० १४६ एवं १४९
१२. उत्तराध्ययनसूत्र, २९/६३



जैन पोथियों में जैनेतर दृश्य

डॉ० शैलेन्द्र कुमार*

जैन चित्रों में कुछ ऐसी सामग्री मिलती है जिनको देखने से ऐसा लगता है कि इनका उद्गम अजैन स्रोतों से हुआ है। लेकिन जैन सम्प्रदाय के अन्तर्गत ब्राह्मणधर्मीय चित्रित चित्रों में थोड़ा बहुत परिवर्तन दिखायी देता है। उदाहरणस्वरूप ब्राह्मणधर्मीय कृष्ण नेमीनाथ के छोटे भाई हैं और कई युद्धों में वे नेमीनाथ से पराजित होते हैं। इस सन्दर्भ में हमें यह मानना चाहिए कि यहाँ पर बनी कृष्ण की आकृति ब्राह्मण धर्म की न होकर जैन धर्म की है। क्योंकि दृश्य देखकर ऐसा लगता है कि मूलतः ये बिम्ब अजैन हैं। परन्तु जैन परम्परा ने इन्हें किसी न किसी रूप में स्वीकार किया गया है। कुषाण काल की एक जैन सरस्वती की प्रतिमा है जो वर्तमान समय में मथुरा संग्रहालय में संग्रहीत है। इस मूर्ति के मौलिक स्वरूप (सरस्वती) को नहीं भुलाया जा सकता। जैन चित्रों को दो भागों विभाजित करके देखा जा सकता है। प्रथम भाग में वे चित्र आयेंगे जिन्हें धर्म निरपेक्ष चित्र की संज्ञा दी जा सकती है, जैसे 'देवशानो पाड़ो कल्पसूत्र' के हाशिये पर अंकित नाट्यशास्त्र रागमाला के चित्र, नवनारी कुंजर के दृश्य आदि हैं और द्वितीय भाग में कुछ ऐसे दृश्यों को रखा जा सकता है जो ब्राह्मण धर्म की परम्परा से जुड़े हैं। इसके अन्तर्गत जैन आकृतियों में शिव, विष्णु, सरस्वती आदि के चित्र आयेंगे।

ब्राह्मण धर्म से प्रभावित जैन आकृतियों के चित्रण की परम्परा पूर्ववर्ती काल से ही चली आ रही है, जैसे मथुरा से कुषाणकालीन नेमीनाथ की मूर्तियों में पार्श्व देवता के रूप में कृष्ण-बलराम की आकृतियाँ भी हमें देखने को मिलती हैं। १५वीं शती में हमें जैन तंत्र के अनुशासन से सम्बन्धित आकृतियाँ प्राप्त होने लगती हैं। जैन पोथियों में धर्म-निरपेक्ष और लौकिक प्रसंग के दृश्य भी हैं जिनमें रागमाला के चित्र विशेष उल्लेखनीय हैं।

रागमाला के चित्र (एस०एम०नवाब संग्रह)

एस०एम० नवाब संग्रह में 'कल्पसूत्र' की एक पोथी है। इस पोथी के हाशिए पर रागमाला का चित्र बना हुआ है।^१ सामान्य तौर पर रागमाला के चित्रों में ६ राग और प्रत्येक राग की ६-६ रागिनियों सहित ३६ पृष्ठ प्राप्त होते हैं, लेकिन इस प्रति की

* प्रवक्ता, संजय मेमोरियल वोमेन्स कालेज, केराकतपुर, वाराणसी

सबसे महत्त्वपूर्ण बात यह है कि इनमें ६ राग और प्रत्येक की ६-६ रगिनियों सहित कुल ४२ चित्र हैं। इस दृष्टि से रागमाला की इस प्रति का महत्त्व बहुत अधिक बढ़ जाता है। रागमाला प्राप्त पोथियों में सर्वप्रथम ज्ञात चित्रित पोथी है। १५वीं-१६वीं शती से रागमाला के चित्र बहुत अधिक संख्या में बनने लगे थे। राजस्थान की परवर्ती क्षेत्रीय शैली में इससे सम्बन्धित चित्र बहुत अधिक संख्या में मिलने लगते हैं। पश्चिम भारतीय शैली के चित्रों में राग-रागिनी के केवल रूप विधान का ही अंकन है। फलतः प्रत्येक में केवल एक आकृति है और पृष्ठभूमि में किसी भी प्रकार का वातावरण नहीं है लेकिन परवर्ती चित्रों में इसकी कल्पना नायिका-भेद के रूप में की गई है जहाँ सम्बन्धित वातावरण का अंकन भी है।

इन चित्रों में स्थान सम्बन्धी नयापन दिखाई देता है। प्रायः जैन पोथियों के चित्र वर्गाकार होते थे लेकिन हाशिए वाले इन चित्रों में, खड़े बल के हाशिये में ऊपर और नीचे दो चित्र हैं और दोनों ही दृश्यों को चारों तरफ से एक पतली पट्टी से घेरा गया है। इस तरह पन्ने ग्रन्थाकार है लेकिन चित्र खड़े बल में है। इस तरह एक ओर कलाकार पटचित्रों में स्थान सम्बन्धी बन्धन से मुक्त मालूम पड़ते हैं, वहीं इस रागमाला के चित्र स्थान सम्बन्धी सीमाओं से जकड़े प्रतीत होते हैं, लेकिन इसके बावजूद राग-रागिनी का चित्रण बहुत सहज ढंग से हुआ है। जो चित्र प्राप्त हुए हैं वह बहुत ही क्रमबद्ध रूप में हैं। प्रत्येक चित्र के ऊपर एक पतली पट्टी में सम्बन्धित राग-रागिनी का नाम लिखा है और प्रत्येक पाँच दृश्य के बाद छोटे दृश्य में एक वृक्ष का अंकन है। श्री एस०एम० नवाब के अनुसार यह वृक्ष प्रत्येक राग सिरीज की समाप्ति का द्योतक है।^१ इसमें सबसे अन्तिम चित्र एक पूर्ण घट का है जो रागमाला के चित्रों की समाप्ति का सूचक है।^२

हर पाँचवे खण्ड में मिलने वाला अलंकारिक वृक्ष का आकार पान के पत्ते जैसा है। इस तरह का अंकन इस काल के दूसरे चित्रों में नहीं है। पत्तियों के झुप्पे तने के निचले सिरे के पास से ही शुरू हो जाते हैं। पत्तियाँ सर्पाकार शाखाओं से लगी हुई हैं, झुप्पों को चारों तरफ से दोहरी रेखाओं से घेर दिया गया है। जिन पर बारीक-बारीक धारियाँ बनी हुई हैं। वृक्षों का ऐसा ही आकार 'देवशानो पाड़ो कल्पसूत्र' व 'कालकाचार्य कथा' के हाशिए पर बने एक दृश्य में मिलता है।^३ जिसके फलस्वरूप इन दोनों प्रतियों का काल एक ही माना जा सकता है। उक्त 'कल्पसूत्र', व 'कालकाचार्यकथा' की प्रति प्रायः १५७५ ई० की मानी गई है। इसी आधार पर इन रागमाला चित्रों को भी हम लगभग इसी काल में रख सकते हैं। शैली को देखने के बाद भी इसे इसी काल से सम्बन्धित मानना उचित है। एक-दूसरे प्रकार के वृक्ष में पत्तियों के स्थान पर घुमावदार जाल है जो कि समकालीन मुस्लिम टाइल्स से ग्रहण किया गया लगता है।

नाट्यशास्त्र के चित्र

'कल्पसूत्र' की सचित्र प्रतियों के हाशिये पर भरत के नाट्यशास्त्र के सुन्दर चित्र मिलते हैं। इनके चित्र में परम्परागत शैली को एक छन्दमय गति में दर्शाया गया है। इनमें कलाकार ने नृत्य की विभिन्न मुद्राओं को दिखाया है। इनमें देवशानो पाड़ो 'कल्पसूत्र', 'कालकाचार्य कथा' के हाशिए पर नाट्यशास्त्र के कई चित्र मिलते हैं। कई प्रकार की मुद्राओं में नृत्यरत स्त्रियों को इन हाशियों पर दिखाया गया है।¹⁴ ये नर्तकियाँ अकेली हैं। इनके चेहरों में कुछ चेहरे गोल व मंगोल प्रकार के हैं व कुछ चेहरे परम्परागत पश्चिम भारतीय शैली में हैं। पान आकार के घाघरे के दामन कभी-कभी पीछे को मुड़ गये हैं।¹⁵ इससे परम्परा में परिवर्तन-सा दिखाई पड़ता है। कई अन्य स्थानों पर इनके घाघरे घेरदार हैं।¹⁶ ऐसे घेरदार घाघरे इस शैली में और कहीं नहीं मिलते हैं। मंगोल प्रकार के चेहरे वाली स्त्रियाँ मिश्रित शैली के उदाहरण हैं जहाँ कलाकार ने चेहरे को ईरानी प्रकार का बनाया है, परन्तु वस्त्र भारतीय प्रकार के बनाये हैं। इससे भारतीय सुल्तानी शैली व परम्परागत पश्चिम भारतीय शैली में परस्पर आदान-प्रदान की प्रक्रिया का पता लगता है। इन गोल चेहरों पर गाल पर लटकती हुई लट, माथे पर बड़ा गोल टीका, दोहरी टुड्डी भारतीय प्रभाव में हैं। मिश्रित शैली में बनायी गयी इन नर्तकियों में एक नयी स्वच्छन्दता है, रूढ़िगत शैली की स्थिरता का अभाव है।

कई अन्य स्थानों पर इन नर्तकियों का प्रयोग एक विशेष उद्देश्य से किया गया है।¹⁷ इन चित्रण में दो नर्तकियों के सम्मिलित प्रयोग से पूर्ण घट का चित्रण हुआ है। बेल-बूटो के बीच नृत्य संगीत के दृश्य का अंकन है।¹⁸ इन दृश्यों में लयात्मकता और छन्दमय गति दिखाई पड़ती है। नाट्यशास्त्र के ये चित्र पश्चिम भारतीय शैली के अद्भुत उदाहरण हैं।

विजय यंत्र

विजय यंत्र नामक पट्ट इस समय विक्टोरिया एण्ड अलबर्ट म्यूजियम, लन्दन में है। यह पट्ट विक्रम सं० १५०४ ई० सन् १४४७ में तैयार किया गया था।¹⁹ इस पट्ट में ब्रह्मा, शिव, विष्णु जैसे ब्राह्मण धर्मीय स्रोत से जैन धर्म में स्वीकृत देवताओं के चित्र हैं। अलग-अलग देवताओं को उनके रूप विधान के अनुसार बनाया गया है। इन देवताओं को मेहराब तथा पतले खम्भों से निर्मित अलग-अलग ताखों में अंकित किया गया है। यह दृश्य बहुत ही आलंकारिक प्रतीत होता है। अनेक प्रकार से छोटे से छोटे स्थान को भी अलंकृत किया गया है। जैन पट्ट में ब्राह्मण स्रोतों से स्वीकृत देवताओं का इतना सही और अलंकारिक चित्रण अपने आप में एक विशेष महत्त्व रखता है। सबसे बड़ी बात है कि जैन परम्पराओं ने इन्हें ग्रहण तो कर लिया पर उनके

मौलिक रूप में कोई परिवर्तन नहीं किया। इसका कारण यह है कि वास्तव में जैन धर्मावलम्बी और चित्रकार प्रारम्भ से ही तीर्थकरों, देवी-देवताओं, जैन मुनि इत्यादि^{११} के चित्रण में प्रतिमाशास्त्र में बताए लक्षणों का ज्यों का त्यों पालन करते रहे हैं। सम्भवतः यही कारण है कि ब्राह्मण धर्मीय देवताओं के चित्रण में भी वे आवश्यकता से अधिक सजग रहे। इसी समय में मिले अन्य साक्ष्यों से पता चलता है कि जैन देवी-देवताओं की तरह ब्राह्मण धर्मीय देवताओं के रूप भी निश्चित थे। प्रस्तुत पट्ट में गणेश जी की जैसी परिकल्पना है वैसा ही रूप अन्य उदाहरणों में देखने को मिलता है। इसी प्रकार का अंकन चिन्तामणी यंत्र में है यंत्र के एक ऊपरी कोने में गणेश की आकृति है^{१२} जिसे जैन परम्परा में पार्श्व यज्ञ के रूप में स्वीकार किया गया है।^{१३} लेकिन मूलतः यह अजैन बिम्ब है इस चिन्तामणि यंत्र के गणेश तथा प्रस्तुत विजय यन्त्र के गणेश की आवृत्ति में निश्चित साम्य है। शत्रुन्जय महात्म्य (१४६८ A.D.) पोथी की गणेश आकृति भी इसी दृष्टि से उल्लेखनीय है।^{१४} तीनों ही स्थानों पर गणेश के बिम्ब एक जैसे हैं। इससे ऐसा लगता है कि इन देवताओं के स्वरूप भी निश्चित होते थे। भारत कला भवन में संग्रहीत स्तुतियों में भी देवी-देवता हैं। ये देवी-देवता बार-बार आते हैं। ऐसे चित्रण ही प्रस्तुत पट्ट चित्र के स्रोत हो सकते हैं। यहाँ पर एक उल्लेखनीय बात यह है कि इन सभी देवी-देवताओं को चित्रकार ने सवाचशमी युक्त चेहरे बनाये हैं जिनमें परली आँख बाहर निकली हुई है। जैन चित्रणों में इस प्रकार का स्वरूप उप-देवताओं के लिए प्रयुक्त होता था। इसका उदाहरण अनेक ताड़पत्रीय पोथियों में प्रयुक्त आकृतियों से मिलता है। अतः जैन परम्परा के अनुसार उन्हें उसी परम्परा में चित्रित किया गया है। दूसरी तरफ तीर्थकर आकृतियों को विशेष रूप से कायोत्सर्ग की स्थिति से लेकर परवर्ती सभी चित्रणों में पूरे दो चशमी चेहरो के साथ दिखलाया गया है।^{१५} इस विवेचना से एक बार फिर यह सिद्ध होता है कि उपर्युक्त प्रकार के दोहरे मानदण्ड एक निश्चित परम्परा व प्रतिक्रिया के अन्तर्गत ही हुए हैं। कला भवन की स्तुति-समुच्चय में भी केवल एक स्थान पर दो चशमी चेहरा प्राप्त हुआ है। यह नवग्रह पैनल में सूर्य की आकृति है। इसी प्रकार १४ स्वप्नों वाले पैनल में भी लक्ष्मी की आकृति दो चशमी बनाई गयी है।^{१६} ये सभी अंकन निश्चित अर्थ वाले थे।

एक और सूरीमन्त्र पट्ट में यंत्र के ऊपरी कोने में घोड़े पर सवार काली तथा भैरव की आकृतियाँ हैं।^{१७} निश्चित ही इन देवी-देवताओं को जैन धर्म में निश्चित उद्देश्य से अपनाया गया और इनके सम्बन्ध को धर्म के साथ जोड़ा गया, लेकिन इनके रूप विधान ब्राह्मण, शैव, शाक्त सम्प्रदायों के अनुसार ही रहे। मूर्तिशास्त्र के अन्तर्गत ही शंकर के भैरव रूप को दिखाने के लिए नृत्य की मुद्रा में गले में नरमुण्डों की माला है। कमर में बाघचर्म एवं हाथ में डमरू तथा दूसरे हाथ में आयुध पकड़े हैं। इस प्रकार

भले ही वैष्णव शाक्त सम्प्रदायों के चित्रित ग्रन्थ १५वीं शती के उत्तरार्ध से मिलते हैं, भरन्तु लोक में ये बिम्ब पहले से रहे होंगे। पूर्वी भारत में तो १२वीं शती में ही वैष्णव सम्प्रदाय के चित्रित उद्धारण प्राप्त होते हैं।

सन्दर्भ :

१. एस०एम० नवाब, मास्टर पीसेस ऑफ द कल्पसूत्र पेंटिंग्स, अहमदाबाद, १९५६, पृ० १-६, प्लेट ए जी
२. वही, पृ० ३
३. वही, पृ० ६
४. कार्ल खण्डालावाला एवं मोतीचन्द्र, न्यू डाक्यूमेण्टस ऑफ इण्डियन पेंटिंग : ए रिप्राइजल, बम्बई, १९६९, चित्र ८७
५. वही, प्लेट ५, चित्र ५६, ६८-८९, ८१; मोतीचन्द्र, जैन मिनिघेचर पेंटिंग फ्राम वेस्टर्न इण्डिया, अहमदाबाद, १९४९, चित्र १०६, १३१
६. कार्ल खण्डालावाला एवं मोतीचन्द्र, उपर्युक्त, १९६९, चित्र ६८
७. वही, चित्र ६९
८. वही, एमिप्लेट ६ बी, चित्र ८९
९. वही, चित्र ९१
१०. यू०पी० शाह, मोर डाक्यूमेण्ट्स ऑफ जैन पेंटिंग्स एण्ड गुजराती पेंटिंग्स ऑफ सिक्सटीन्थ एण्ड लेटर सेन्चुरीज, १९७६, पृ० १२-१३, चित्र ३०-३२
११. मोतीचन्द्र, उपर्युक्त, १९४९, चित्र ७५
१२. वही, पृ० ४६
१३. यू०पी० शाह, उपर्युक्त, १९७६, चित्र ३५,
१४. मोतीचन्द्र, उपर्युक्त, १९४९, चित्र १५४, १५९, १६०
१५. वही, चित्र १००, १५५ आदि
१६. वही, पृ० ४७, चित्र, १७६



जैन दर्शन एवं श्री अरविन्द के दर्शन में चेतना का स्वरूप : एक तुलनात्मक सर्वेक्षण

डॉ० अवनीश चन्द पाण्डेय*

मनुष्य मात्र चेतन प्राणी ही नहीं है, बल्कि चिन्तनशील प्राणी भी है और उसकी यह विशिष्टता उसे अन्य प्राणियों से अलग करती है। वह न केवल 'ब्रह्माण्ड' की विभिन्न वस्तुओं पर विचार करता है बल्कि 'स्वयं' के ऊपर भी विचार करता है तथा इस विचार-प्रक्रिया के क्रम में वह यह अनुभूत करता है कि 'मैं एक सचेतन एवं ज्ञानात्मक प्राणी हूँ।' वह यह भी पाता है कि मानवीय चेतना से अलग यदि कोई चीज है तो उसका होना उसी सीमा तक है जिस सीमा तक वह मानवीय चेतना से सम्बद्ध है और यदि मानवीय चेतना से सम्बद्ध नहीं है तो वह मानवीय दृष्टि से न होने के बराबर है। इस अर्थ में मानव जीवन की सम्पूर्ण समस्याएं उसके प्रति मूलतः उसकी चेतना की समस्याएं हैं। अतः सर्वोपरि प्रश्न भी यही होना चाहिए कि 'चेतना क्या है?' जैन दर्शन एवं श्री अरविन्द दर्शन में 'चेतना' पर पर्याप्त विश्लेषणात्मक ढंग से विचार किया गया है।

जैन दर्शन में चेतना विचार

आत्मा की जड़ से भिन्नता सिद्ध करने के लिए शीलाकाचार्य युक्ति प्रस्तुत करते हैं कि पांचो इन्द्रियों के विषय अलग-अलग हैं, प्रत्येक इन्द्रिय अपने विषय का ही ज्ञान करती है, जबकि पांचों इन्द्रियों के विषयों का एकत्रीभूत रूप में ज्ञान करने वाला अन्य कोई अवश्य है और वह आत्मा है।^१

जैन दर्शन में जीव को ही आत्मा माना गया है जिसका सामान्य लक्षण उपयोग है।^२ 'उपयोग' शब्द चेतना को अभिव्यक्त करता है। यहाँ यह स्मरणीय है कि जैनों के अनुसार चेतना जीव का अनिवार्य गुण है।^३ इसी गुण के कारण वह समस्त जड़द्रव्यों से अपना पृथक् अस्तित्व रखता है। बाह्य एवं आभ्यन्तर कारणों से 'तत्त्वार्थसूत्र' में उपयोग (चेतना) दो प्रकार का माना गया है -

१. ज्ञानोपयोग और
२. दर्शनोपयोग।^४

* पूर्व शोध छात्र, दर्शन एवं धर्म विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

ज्ञानोपयोग और दर्शनोपयोग में ज्ञान साकार है और दर्शन निराकार है। ज्ञान सविकल्पक है और दर्शन निर्विकल्पक है। उपयोग की सर्वप्रथम भूमिका दर्शन है जिसमें केवल सत्ता का भान होता है।^५ पहले दर्शन होता है फिर ज्ञान होता है इसलिए निराकार एवं निर्विकल्पक है तथा ज्ञान साकार और सविकल्पक होता है। न्याय-वैशेषिक में चेतना को आत्मा का गुण बतलाया गया है। इस गुण का गुणी या आधार आत्मा है जिसमें यह चेतना नामक गुण समवाय सम्बन्ध से समवेत रहता है। किन्तु उनके यहां चेतना आत्मा का आगन्तुक गुण है तथा यह उत्पत्ति विनाशशील है, अतः जैन दर्शन में चेतना जीव का आगन्तुक गुण न होकर अनिवार्य गुण है। कुन्दकुन्द 'प्रवचनसार' में लिखते हैं कि आत्मा ज्ञान या चैतन्य वाला नहीं बल्कि ज्ञान या चैतन्य ही आत्मा है। दोनों में कोई भेद नहीं है।^६ अतः चेतना जीव का स्वरूप लक्षण है।

जैन दर्शन में चेतना को प्रथमतया दो भागों में विभक्त किया गया है - मुक्त एवं बद्ध। पुनश्च बद्ध जीव दो भागों में बंटा हुआ है - त्रस एवं स्थावर। त्रस जीवों के अन्तर्गत पंचज्ञानेन्द्रिय जीव (मनुष्य), चतुरिन्द्रिय जीव (मधुमक्खी), त्रीन्द्रिय जीव (चींटी), द्वीन्द्रिय जीव (केचुआ) आते हैं, जबकि स्थावर जीवों में एकेन्द्रिय जीव आते हैं। इस प्रकार जैन दर्शन में चेतना का विस्तार मुक्त जीव से लेकर एकेन्द्रिय जीव तक है। पुद्गल अचेतन द्रव्य है।

जैन दर्शन के अनुसार जीव को कर्मों के आधार पर जैसा शरीर मिलता है वह अपने को उसी रूप में स्थित कर लेता है। इसीलिए उसे शरीर परिमाणी माना गया है। यद्यपि विवेक-क्षमता के आधार पर आत्मा को दो भागों में विभाजित किया गया है- समनस्क और अमनस्क। समनस्क आत्माएँ वे हैं जिन्हें विवेक-क्षमता युक्त मन उपलब्ध है और अमनस्क आत्माएँ वे हैं जिन्हें ऐसा विवेक-क्षमता से युक्त मन उपलब्ध नहीं होता है।

जैविक आधार पर भी प्राणियों का विभाजन जैन दर्शन में देखा जाता है। जैन दर्शन में दस प्राण शक्तियाँ स्वीकार की गई हैं। स्थावर एकेन्द्रिय जीवों में चार शक्तियाँ होती हैं- स्पर्श-अनुभव शक्ति, शारीरिक शक्ति, जीवन शक्ति और श्वसन शक्ति। द्वीन्द्रिय जीवों में इन चार शक्तियों के अतिरिक्त स्वाद और वाणी की शक्ति होती है। त्रीन्द्रिय जीवों में इन छ शक्तियों के अतिरिक्त गन्ध ग्रहण करने की शक्ति निहित होती है। चतुरिन्द्रिय जीवों में उपर्युक्त सात शक्तियों के साथ देखने का सामर्थ्य भी होता है। पंचेन्द्रिय जीव समनस्क और अमनस्क दोनों प्रकार के होते हैं। लेकिन दोनों में अन्तर है। पंचेन्द्रिय अमनस्क जीवों में इन आठ शक्तियों के साथ-साथ श्रवण-शक्ति भी होती है। इसी प्रकार पंचेन्द्रिय समनस्क जीवों में इनके अतिरिक्त मनःशक्ति भी होती है।

जैन दर्शन के अनुसार जीव अनेक हैं। जीव अस्तिकाय द्रव्य है किन्तु उसका आकाश में पुद्गल के समान विस्तार नहीं है। वह स्वदेह-परिमाण है। शरीर के बाहर जीव की सत्ता स्वीकार नहीं की जा सकती है। हमारी प्रतीति यह बताती है कि जितने परिमाण में हमारा शरीर है उतने ही परिमाण में हमारी आत्मा है। जहाँ पर जिस वस्तु के गुण उपलब्ध होते हैं वहाँ पर वह वस्तु होती है। कुम्भ वहाँ पर होता है जहाँ पर कुम्भ के गुण रूप आदि उपलब्ध होते हैं। कर्मों के आधार पर जीव को जैसा शरीर प्राप्त होता है वह उसी में अपने को व्याप्त करता है। अतः वह 'शरीर-परिमाणी' है। उसे चींटी का शरीर प्राप्त हो या हाथी का वह प्राप्त शरीर के अनुरूप ही रहता है।

चेतना या ज्ञान का कार्य है - स्वयं तथा अन्य वस्तुओं को प्रकाशित करना। इसीलिए ज्ञान या चेतना को 'स्व-पर-प्रकाशक' कहा गया है। जैसे दीपक स्वयं को प्रकाशित करते हुए अन्य वस्तुओं को भी प्रकाशित करता है उसी प्रकार आत्मा भी स्व को जानते हुए ही दूसरे को जानती है। चेतना का विस्तार जीवों तक सीमित है जिसके एक छोर पर मुक्त जीव हैं जो सर्वोच्च छोर का प्रतिनिधित्व करते हैं तो दूसरे छोर पर एकेन्द्रिय जीव (वनस्पति) हैं। जैन दर्शन में चेतना सर्वव्यापी नहीं है।

श्री अरविन्द दर्शन में चेतना का स्वरूप : श्री अरविन्द का दर्शन 'समग्र अद्वैतवाद' के नाम से जाना जाता है। उनका कहना है कि जीवन की सभी समस्याएं तत्त्वतः सामञ्जस्यी समस्याएं हैं, जो किसी अनसुलझी विसंगति के प्रत्यक्ष दर्शन और अप्राप्त मेल के कारण उठती हैं और एकता का सहज बोध करना चाहती हैं। श्री अरविन्द अध्यात्मवादी भौतिक तत्त्वों का निषेध जितनी तीव्रता के साथ करते हैं उतनी ही तीव्रता से जड़वादी आध्यात्मिकता का निषेध भी करते हैं। उनका कहना है कि मात्र आत्मा पर बल देना यथेष्ट नहीं है, उसके साथ-साथ जड़द्रव्य आदि के महत्त्व को भी समझना उतना ही आवश्यक है।

श्री अरविन्द का कहना है कि अगर हम जड़तत्त्व और आत्मा के बीच के आरोहणकारी सोपान, मन और अतिमन को जोड़ने वाली विभिन्न श्रेणियों को स्वीकार न करें तो ये दो चरम छोर जड़तत्त्व और आत्मा इतने अधिक विभक्त प्रतीत होते हैं कि इनकी एकात्मिकता तर्कसंगत बुद्धि को विश्वसनीय नहीं प्रतीत होती है।^१ ऐसा लगता है ये दोनों असंगत हैं। श्री अरविन्द का 'चेतना' सम्बन्धी विचार इन दोनों तथाकथित असंगत छोरों में एकीकृत सम्बन्ध ढूँढ़ने का तर्कसंगत प्रयास है। यह चेतना एवं जड़ के बीच के द्वैत को समाप्त कर एक ऐसी अद्वैतमूलक चेतन सत्ता की स्थापना है जिसमें जगत् को मिथ्या कहने की कोई आवश्यकता नहीं है।

श्री अरविन्द 'जड़' पर अपना विचार प्रस्तुत करते हुए 'तैत्तिरीयोनिषद्' का एक उद्धरण प्रस्तुत करते हैं - जड़द्रव्य ब्रह्म है।^{१०} जड़वादी जहां जड़ को प्राण या चेतना का उपादान मानते हैं वही श्री अरविन्द प्राण को जड़ का उपादान मानते हैं।^{११} वे जड़ पर विचार करते हुए कहते हैं कि - 'जड़ के सम्बन्ध में विचारणीय प्रश्न यह है कि सबसे अधिक सूचना देने वाला कौन-सा तत्त्व है? श्री अरविन्द कहते हैं कि वह तत्त्व है उसकी घनता, स्पृश्यता, बढ़ती हुई प्रतिरोध-शक्ति, इन्द्रिय-स्पर्श के प्रति दृढ़ प्रतिक्रिया आदि। उनका कहना है कि द्रव्य हमारे आगे जितना अधिक ठोस प्रतिरोध खड़ा करता है और उस प्रतिरोध के कारण इन्द्रियगम्य रूप का ऐसा स्थायित्व लाता है जिस पर हमारी चेतना टिक सकती है, उसी अनुपात में वह हमें वास्तविक प्रतीत होता है। वह जितना ही अधिक सूक्ष्म होता है, उसका प्रतिरोध जितना ही कम ठोस होता है और इन्द्रियां जिसे थोड़ी देर को ही पकड़ पाती हैं, वह हमें उतना ही कम जड़ या भौतिक प्रतीत होता है। जड़ के प्रति हमारी सामान्य चेतना का यह भाव इस मूलभूत उद्देश्य का प्रतीक है जिसके लिए जड़तत्त्व की रचना की गयी है।^{१२}

वस्तुतः जड़वाद यह आग्रह करता है कि चेतना का चाहे जितना विस्तार क्यों न हो वह एक भौतिक प्रपंच ही है जिसे इन्द्रियों से अलग नहीं किया जा सकता और चेतना इन्द्रियों का उपयोग करने वाली न होकर उसका परिणाम है। किन्तु श्री अरविन्द कहते हैं कि जड़वादियों का यह मत अन्ततः स्वीकार्य नहीं है क्योंकि हमारी समग्र चेतना की क्षमता हमारे अंगों, हमारी इन्द्रियों, स्नायुओं तथा मस्तिष्क की क्षमता से बहुत अधिक बढ़कर है। इतना ही नहीं हमारे सामान्य विचार और चेतना के लिए भी ये अंग केवल अभ्यासगत यंत्र हैं, उनको पैदा करने वाले नहीं। चेतना मस्तिष्क का उपयोग करती है। उसके ऊर्ध्वमुखी प्रयासों ने ही समस्त मस्तिष्क को पैदा किया है। मस्तिष्क ने न तो चेतना को पैदा किया है, न वह उसका उपयोग करती है। ऐसे दृष्टांत भी हैं जो प्रमाणित करते हैं कि हमारे अंग एकदम अनिवार्य उपकरण नहीं हैं - उदाहरणार्थ हृदय की धड़कनें जीवन के लिए एकदम अनिवार्य नहीं हैं उसी तरह जैसे श्वासोच्छ्वास अनिवार्य नहीं है और न संगठित मस्तिष्क कोष विचार के लिए अनिवार्य है। जिस तरह 'इंजन का निर्माण' बिजली या भाप की चालक शक्ति का कारण या उसकी व्याख्या नहीं हो सकता क्योंकि बिजली या भाप इंजन को चलाता न कि इंजन बिजली या भाप को चलाती है। उसी तरह हमारे शारीरिक अवयव विचार और चेतना के कारण नहीं हो सकते और न ही उसकी व्याख्या कर सकते हैं। शक्तिपूर्ववर्ती है, भौतिक यंत्र नहीं।^{१३}

यहां प्रश्न यह उठता है कि जहां (मूर्च्छा गाढ़ निद्रा आदि में) हम निर्जीवता और जड़ता देखते हैं वहां भी मानसिक चेतना का अस्तित्व रहता है, तो क्या यह

संभव नहीं है कि जड़ पदार्थों में भी अवचेतन मन उपस्थित हो, भले वह अवयवों के अभाव में उसकी सतह के साथ कोई संपर्क स्थापित न कर सके।^{१४}

श्री अरविन्द कहते हैं कि यदि हम निष्पक्ष रूप से अवलोकन करें तो देखेंगे कि हमारे अंदर एक प्रकार की प्राणिक चेतना है जो शरीर के कोषाणुओं में और स्वचालित प्राणिक क्रियाओं में काम करती है जिसके कारण हम उद्देश्यपूर्ण गतियों से गुजरते हैं और उन आकर्षणों-विकर्षणों के अधीन होते हैं जो हमारे मन के लिए अजनबी होते हैं। पशुओं में यह प्राणिक चेतना और भी अधिक महत्त्वपूर्ण चीज होती है। वनस्पतियों में यह अन्तर्भाषात्मक रूप में स्पष्ट होती है। वनस्पति की ललक और सिकुड़न, उसके सुख-दुःख, उसकी नोंद और जागती हुई अवस्था और वह विचित्र जीवन जिसकी सच्चाई जगदीश चन्द्र बसु ने कठोर वैज्ञानिक पद्धति से प्रकाश में लायी, ये सब चेतना की गतिविधियाँ हैं।^{१५}

किन्तु यहाँ प्रश्न यह उठता है कि क्या उस चीज का सोपान जिसे हम चेतना कहते हैं, वनस्पति के साथ ही समाप्त हो जाता है? अगर ऐसा है तो हमें स्वीकार करना होगा कि जीवन और चेतना की शक्ति जड़त्व के लिए मूलतः विजातीय है। किन्तु श्री अरविन्द कहते हैं कि चेतना का अस्तित्व वनस्पति जगत् के साथ ही समाप्त नहीं होता है।^{१६} वे अचानक इतनी बड़ी खाई स्वीकार करने के पक्ष में नहीं हैं। वे कहते हैं कि विचार को यह अधिकार है कि वह ऐसी अवस्था में वहाँ एकता को मान ले जहाँ प्रपंच की सभी श्रेणियाँ उस एकता को स्वीकार करती हों और केवल एक श्रेणी ऐसी हो जो उसे नकारती तो नहीं है, पर उसमें यह औरों से अधिक छिपी हुई हो। और, अगर यह माने कि यह एकता अविच्छिन्न है तो हम उस बात पर आ पहुँचते हैं कि जगत् में काम करने वाली शक्ति के जितने भी रूप हैं उन सबमें चेतना का अस्तित्व है। चाहे सभी रूपों में सचेतन या अतिचेतन पुरुष का निवास न भी हो फिर भी उन रूपों में सचेतन शक्ति विद्यमान रहती है जिसमें उसके बाहरी अंग भी प्रत्यक्ष या निष्क्रिय रूप में भाग लेते हैं।^{१७} पुनश्च जड़वादी जड़वस्तुओं से चेतना की उत्पत्ति की बात कहते हैं किन्तु यदि उनमें चेतना न हो तो कैसे चेतना की उत्पत्ति हो सकती है बालू से तेल नहीं निकलता है। उसके अतिरिक्त जिस क्षण भौतिक पदार्थ अपने को चेतना में परिवर्तन करते हैं, उस क्षण उनका स्वतंत्र अस्तित्व समाप्त हो जाता है, इससे निष्कर्ष यही निकलता है कि तथाकथित जड़ पदार्थ में चेतना प्रसुप्त रूप में विद्यमान रहती है। अब यदि जड़ वस्तुओं में चेतना विद्यमान है तो इससे दो बातें स्पष्ट होती हैं कि 'चेतना की एकमात्र सत्ता है' एवं दूसरा 'चेतना सर्वव्यापी है।' प्रश्न उठता है कि चेतना अणु है या विभु है? श्री अरविन्द का कहना है कि उसे किसी एक सीमा में नहीं बाँधा जा सकता। वह सूक्ष्म से सूक्ष्मतम या अणु से अणुतम एवं महान से

महानतम है।^{१८} ब्रह्म स्वयं को कीट के रूप में अभिव्यक्त करते समय न तो स्वयं सूक्ष्म होता है न ही ब्रह्माण्ड के रूप में अपने को अभिव्यक्त करते समय महान हो जाता है।^{१९} श्री अरविन्द कहते हैं कि ब्रह्म वह चेतना है जो सभी अस्तित्ववान सत्ताओं में विद्यमान है।^{२०}

तुलनात्मक सर्वेक्षण

संक्षेप में हम कह सकते हैं कि जहां जैन दर्शन में जड़त्व की चेतना से पृथक् सत्ता स्वीकार की गयी है वहीं श्री अरविन्द के दर्शन में तथाकथित जड़त्व को चेतना या ब्रह्म की अभिव्यक्ति स्वीकार किया गया है तथा चेतना से पृथक् जड़त्व को कोई स्वतंत्र सत्ता नहीं प्रदान किया गया है। जैन दर्शन में जहां जड़त्व चेतना की सर्वव्यापकता के लिए बाधा उत्पन्न करता है वहीं श्री अरविन्द के दर्शन में तथाकथित जड़त्व चेतना का ही एक रूप होने के कारण चेतना की सर्वव्यापकता को स्थापित करता है। जैन दर्शन जहाँ चेतना को शरीर-परिमाणी मानता है, वहीं श्री अरविन्द चेतना को शरीर-परिमाणी या अणु या विभु किसी भी सीमा से आबद्ध न कर उसे इन सभी रूपों में विद्यमान मानने के साथ-साथ इसके परे भी उसकी सत्ता स्वीकार करते हैं।

श्री अरविन्द जैन मान्यता (जैविक स्तर पर) के समान चेतना में परिमाणात्मक भेद स्वीकार करते हैं, किन्तु उनकी स्थिति जैन मान्यता से थोड़ी भिन्न है। श्री अरविन्द के अनुसार यह भेद 'सीमित मन' की विभाजन-शक्ति के कारण है न कि अतिमानसिक दृष्टि से चेतना में कोई परिमाणात्मक या गुणात्मक भेद है। जैनों ने जीव को ज्ञाता, कर्ता एवं भोक्ता बतलाया है और सक्रियता को चेतना का एक अंग स्वीकार किया है। श्री अरविन्द इस बिन्दु पर जैन मान्यता के काफी निकट हैं और सक्रियता को चेतना का ही एक पक्ष स्वीकार करते हैं।

संदर्भ :

१. सूत्रकृतांग टीका, १/१/८
२. उपयोगो लक्षणम्। तत्त्वार्थसूत्र, २/८
३. चेतना लक्षणो जीवः। षड्दर्शन समुच्चय पर गुणरत्न की टीका, ४७
४. तत्त्वार्थसूत्र, २/९
५. प्रमाणनयतत्त्वालोक, २/७
६. प्रवचनसार, १०
- 8 *The Life Divine*, Vol. I. P. 2

५८ : श्रमण, वर्ष ५८, अंक ४/अक्टूबर-दिसम्बर २००७

9. Ibid, P.6
१०. अन्नं ब्रह्मेति व्यजानात्। तैत्तिरीयोपनिषद्, ३.२
11. *The Life Divine*, Vol. I. P. 186
12. Ibid, P. 253
13. Ibid, P. 85-86
14. Ibid, P. 86
15. Ibid, P. 87
16. *The Integral Advaitism of Sri Aurobindo*, P. 154, R.S. Mishra
17. *The Life Divine*, Vol. I, P. 88
१६. अणोरणीयान्महतो महीयानात्मास्य जन्तोर्निहितो गुहायाम्। कठोपनिषद्, १,
२, २०
19. *The Integral Advaitism of Sri Aurobindo*, P. 74, R.S. Mishra
20. *The Life Divine*, Vol. II, P. 324



वितरागी पथ आलोकित*

रेत पर रतनार पाँव
चल पड़े हैं
छोड़ माया
जगत्-मिथ्या

वितरागी पथ आलोकित !

श्वेत आभा
धवल मन
तप-साधना की मूर्ति भी
राग नहीं
विराग नहीं
सम्मोहन संसार नहीं!

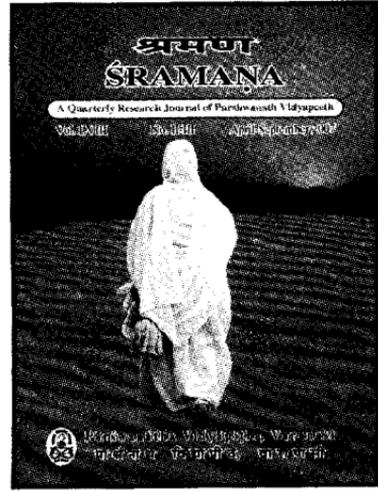
वितरागी पथ आलोकित !

कालिमा के पार दिखती
स्वर्णपाँखी सूर्य किरणें
दिवस का अवसान भी
सौन्दर्य से अभिभूत है
भानु की हजार किरणें

वितरागी पथ आलोकित !

चल पड़ी है
श्वेत आभा
सम्पूर्णता का पार कर
शून्य की संवेदना में
जीवन को तार कर

वितरागी पथ आलोकित !



अनन्य आकर्षण
जीवन का अवसान भी
मृत्यु का आलोक
सौन्दर्य का संन्यास भी

वितरागी पथ आलोकित !

सच भी है-
अंतिम समय
तन धवल मन से
श्वेत-सा वेदाग मन
सौन्दर्य को है खोलता

वितरागी पथ आलोकित !

डॉ० धूपनाथ प्रसाद, प्राध्यापक
महात्मा गांधी अन्तरराष्ट्रीय हिन्दी
विश्वविद्यालय, वर्धा- ४४२००१

* उपर्युक्त पंक्तियाँ श्रमण - वर्ष ५८, अंक २-३, अप्रैल-सितम्बर २००७ के कवर पृष्ठ को देखकर कविहृदय अपनी लेखनी को हस्तपाश में बाँध नहीं पाया और अपनी भावनाओं को कुछ इस तरह से व्यक्त किया, जो आपके समक्ष है। - सम्पादक

ENGLISH SECTION

- The contribution of Buddhism
to the World of Art &
Architecture *Venerable* *Dr. Rewata Dhamma*
- Jaina Architecture and Images
of Western India under the
Western Ksatrapas *Prof. Rasesh Jamindar*
- The Concept of Mind (Manas)
in Jaina Philosophy *Dr. S. P. Pandey*
- Jainism in Bengal *Dr. Harihar Singh*

The contribution of Buddhism to the World of Art & Architecture

Venerable Dr. Rewata Dhamma*

All civilizations whether primitive, ancient, mediaeval or modern have in the course of their development produced cultures. In the name of culture they have created art and architecture, language and literature, music and dance social customs, codes of ethics and behaviour, laws, philosophy and religion. It is by examining a civilization's cultural contributions to the world that we can gain some idea and appreciation of its achievements. This becomes more visible when we look into different periods of the art and architecture from around the world. Every civilization's religion too, in the course of its history, contributes something to the world in general and to the world of art and architecture in particular. Religious beliefs, ideas and ideals are sometimes given visual expression and sometimes form the subject matter of art and architecture. In a sense art and architecture provide mirrors to reflect a civilization. In this respect Buddhism is no exception.

What Buddhism has given to the world is not only a profound analysis of human sufferings, and a practical solution for the problem but also a monumental and rich legacy to the world of art and architecture. Much of this legacy is visible even today in its homeland of India and in much of the eastern world. Here, I would like to have a glimpse at Buddhism's fourth jewel, which is its art and architecture.

The very earliest examples of Buddhist art are not iconic but aniconic images and were popular in India after the death of the

* *Delivered at the Buddhist Seminar, Sarnath, Varanasi, November 1998.*

Buddha. This is because the Buddha, himself did not sanction personal worship or the making of images of the *Tathāgata*, as to do so would have contradicted his message to mankind. He taught and encouraged people to pay heed on his teachings and be self-reliant in striving to put an end to human suffering and endless rebirth in *Samsāra* and realize *Nibbāna* for themselves. He was the living proof that this was possible and attainable by anyone through renouncing worldly and egocentric desires and by making earnest efforts at mental development and purification as this would help one to eradicate the causes of suffering, greed, hatred, delusion and ultimately results in the attainment of Arhatship and *Nibbāna*. Siddhārtha Gautama was a self-perfected, self-enlightened human being and not a saviour of men. He was a human role-model to be followed but not idolized. He himself said, 'Buddhas only point the way'. So this is why the earliest artistic tributes to the Gautama Buddha are abstract symbols indicative of major events and achievements in his last life and in some cases his previous lives. They also serve as reminders of his teachings and provide inspiration. Some of these early aniconic representations of the Buddha include:

1. The Buddha's footprints which were often created at a place where he was known to have walked or was the scene of one of the Jātaka Tales which recount his lifetimes as the *Bodhisatta*, striving to fulfill the perfections necessary in order to become a *Buddha* in the future. Such an image exists at Swat in Pakistan and indicates what is believed to have been the scene of the Deer or Migāra Jātaka story. Another example of this type of narrative imagery is the depictions of the Jātaka Tales at Bharhut in India.

2. The Bodhi-tree which is symbolic of Gautama's enlightenment at the age of thirty-five. A cutting of a tree, believed to have been taken from the original Bodhi Tree which is enshrined at Bodh Gaya in the grounds of the Mahābodhi temple. The Bodhi-tree image was retained and used in many later examples of Buddhist art.

3. The Lotus Flower, which symbolizes both purity and enlightenment and is a popular motif in much Buddhist art and architecture and is very widely used in Tibetan Buddhist Art.

4. The Wheel, which is a reminder of the Buddha's First Sermon. 'The Turning of the Wheel of the Law' delivered at Sarnath, Varanasi in Northern India and where stand the ruins of the ancient Dhammekh *Stūpa* commemorating this major event. The wheel has also been adapted to symbolize the wheel of suffering in *Samsāra* in Tibetan Buddhism and many examples of it are beautifully and skillfully depicted in Tibetan Buddhist Art on *maṇḍals*, a type of meditation-aid and on the cloth paintings known as *thankgas*.

5. A riderless horse, which recalls Prince Siddhārtha's renunciation of worldly life for the ascetic life and the beginning of his search for the path to Enlightenment.

6. An empty throne, which serves as a reminder of his passing away and attainment of *Parinibbāna*.

After the Buddha's death out of deference to his wishes and devotion to his memory and his teachings, these symbols were widely used in the early days of Buddhist Art in India. Some still survive there and can be seen for example, at the Mahābodhi Temple built at Bodhi Gaya, near the scene of the Buddha's Enlightenment. Some of them were also incorporated in later developments of Buddhist art and architecture and featured prominently in places for example, the Temples of Thailand. Many of these symbols are used in contemporary Buddhist art and architecture in both the East and West.

To better appreciate Buddhism's contribution to art and architectural we have to take into account the two major schools of Buddhism, the Theravāda or Hīnayāna and the Mahāyāna as these were to play significant roles in the creation and development of very different types of Buddhist art and architecture. The two schools arose as the result of a rift in the *Saṅgha*, which had its cause in a dispute over the rule of life for monks. This occurred during the

Second Buddhist Council, convened about a century after the first Council was called, in order that the *Samgha* Elders might recite and agree upon the *Dhamma* (doctrine) and *Vinaya* (discipline). This was necessary as the Buddha chose to name no successor. He explicitly stated that the *Dhamma* and *Vinaya* were to be his followers' only guide and teacher when he had gone. Later on this fundamental split caused the *Dhamma* itself to be interpreted differently and this brought about the rise of the two major schools of Buddhism with their different beliefs and ideals, which in turn were to have an important influence on Buddhist art and architecture. Despite the schism and the establishing of the two schools neither school's adherents abandoned neither the Buddha nor the ultimate goal of deliverance from suffering and rebirth culminating in the realization of *Nibbāna* or *Nirvāṇa*. However, as the word, 'yāna' implies, the vehicle used to reach that goal was different. It is this choice of vehicle which accounts for a difference in the beliefs and ideals which we see mirrored in the art and architecture created by Theravādins and Mahāyānists throughout the history of Buddhism.

The Theravāda School is the more orthodox and conservative of the two. Its adherents uphold the *Dhamma* and the ideal of the *Arhat* and look to the Buddha as the human role-model to imitate in their striving to attain deliverance from suffering and rebirth, and eventually Arhatship and *Nibbāna*. Their vehicle to reach this goal is renunciation of all worldly attachments, the eradication of greed, hatred and delusion through following the Noble Eightfold Path and the cultivation of wisdom and insight. India is the birthplace of Theravāda Buddhism and its art and architecture. There the artists and builders of Buddhist structures sought to portray the historical Buddha, and his disciples in the context of Theravādin beliefs and ideals. The chosen medium for this was the *Buddha rūpa* or image and was developed in India. The earliest image we know of is actually a coin struck in the reign of King Kaniṣka. It shows a robed, standing Buddha. His head is surrounded by a halo, symbolizing his

Enlightenment, and his hair is twisted into a topknot, and one of his hands is raised in the gesture of blessing. The art of Buddhist sculpture and of Buddha images in particular, originated in India, and two distinct styles were created. One in the north, in Gāndhāra, where the image-makers looked to the Greeco-Roman tradition for inspiration.

The second style of Buddha image was directly influenced by the earlier Indian style of art peculiar to the south. The first images that we know of appeared in Mathurā. The Mathurā Buddha images had straight hair tied up in a topknot, and were garbed in the traditional Indian *dhotī*. The Mathurā Buddhas are often shown, smiling peacefully. As these images were most commonly made of sandstone they are much softer in contour and more rounded and curved than those made in the north. Many early Indian Buddhist images show the Buddha as having the thirty-two marks of a Buddha and with his hands placed in various positions displaying gestures of blessing, meditation and teaching. The number of Buddha images and Buddhist architectural structures, which survive in India, are very great indeed, but in all of the faces of every image, and in the art and design of every *stūpa* and temple or rock-cave *vihāra* traces of the Buddha-Dhamma are visible.

As Buddhist Art developed and spread outside India the two basic styles were imitated as for example in China where the Gāndhāra style was imitated in images made of bronze. Gradually the faces on these images were made to look more and more Chinese and are even dressed in long flowing robes and shawls, after the Chinese fashion. In those countries where Sarvāstivāda or Theravāda Buddhism took hold and remained, such as Afghanistan, Laos, and Sri Lanka, famous for its enormous reclining Buddha, and in Siam, modern Thailand, which is famous for its exquisite and graceful 'Walking Buddhas' or in the temples and shrines of the ancient capital city of Pagan in Burma now known as Myanmar with its many temples, and in the temples of Malaysia, too the Buddha images housed there, show the influence of the early types of Indian Buddha image.

Other notable surviving examples of Buddhist art, which mirror the Theravāda tradition, are to be found at Lumbini in Nepal, the site of the Buddha's birth and in India at Bodh Gaya, Sarnath Kushinagar, Nalanda and at the Shwedagon Pagoda in Yangon, Myanmar and also at the massive temple complex at Angkor Wat in Cambodia and the very simply, designed yet impressive Temple of the Sacred Tooth in Kandy, Sri Lanka.

The main difference between the Theravāda and Mahāyāna schools of Art is their subject matter. This difference was a direct reflection of the different ideals and beliefs held by the two schools. For the Theravādins the ideal is the *Arhat*, who like a Buddha seeks to eradicate suffering and rebirth in *Samsāra* through renouncing the world, and through the eradication of greed, hatred and delusion. This achievement is made possible if one follows the Middle Way and the Noble Eightfold Path (*Aṣṭāṅga-mārga*) as taught by the Buddha Gautama. *Nibbāna* is the Theravādin's final goal and is attainable through the practice of insight. These beliefs and ideals form the subject matter of Theravāda Buddhist Art. On the other hand, although the followers of the Mahāyāna School of Buddhism uphold the goal of *Nirvāṇa* and deliverance from endless suffering and rebirth in *Samsāra*, they have a different spiritual hero. Their hero is not the Buddha Gautama, but the *Bodhisattva*. A *Bodhisattva* is a kind of divine saviour, whose role is to aid any being desirous of deliverance of sufferings and *Nirvāṇa*. In Mahāyāna Buddhism anyone can become enlightened and renunciation of the world in order to win Arhatship is not absolutely necessary, but the practice of specific rites and rituals and meditations and visualizations is necessary. These spiritual practices will aid the practitioner in purifying the mind and will also attract the help of the *Bodhisattva*. The Mahāyāna School recognized the historical Buddha Gautama, the Śākyamuni, but raised him to the level of a god. He then became divine Buddhas and was eventually regarded as a powerful emanation of the Supreme Essence. It was these celestial Buddhas that were portrayed in Mahāyānist Art and

very beautifully too in countries such as China, Vietnam, Japan and Korea and of course Tibet where the Mahāyāna Tradition is followed.

As the Mahāyānist school of thought evolved it, developed many separate sects, which attracted many followers such as the Zen sects of China and Japan. As has been said earlier, Mahāyāna Buddhism does not uphold the ideal of the *Arhat* but the *Bodhisattva* ideal and along with the cosmic and celestial Buddhas form the subject matter of Mahāyānist Art as well as the populous pantheon which surrounds the many Buddhas and *Bodhisattvas* that belong to the Mahāyāna Tradition. The word, *Bodhisattva*, means, 'a being of wisdom' and is a being whose perfections are fulfilled and who stands on the threshold of *Nirvāṇa* but postpones the attainment of it out of compassion for all other unenlightened beings trapped in *Samsāra*. The greatest virtue of the *Bodhisattvas*, and there are many, both male and female, is their compassion in contrast to the supreme wisdom of the historical Buddha. This boundless compassion makes a *Bodhisattva* a saviour and not a human role model, as was the Buddha Gautama. It is also believed that anyone can become enlightened who asks for their help and who practices all the special mediation exercises and performs all the relevant rituals such as chanting etc. Mahāyāna Buddhism is much more mystical than Theravāda Buddhism, and therefore, so is its art. The figures we see depicted in Mahāyānist Art such as Maitreya, Avalokiteśvara, Chenrezig, Manjuśrī, Tārā and Kuan Yin, are all *Bodhisattvas*. Their beauty and other-worldliness is in-expressible in words, but impressively and well conveyed through the medium of art. We can see them portrayed on wall paintings, on silk scrolls or their images delicately carved of wood, and also notably in the Buddhist caves of China such as those at Longmen, and in the surviving temples of Tibet and the Tibetan exile's place of refuge at Dharmasala in India and in the Mahāyānist Buddhist holy places of Nepal, Vietnam, Mongolia and in the Buddhist places of Indonesia, in the east as well as in the many Tibetan centres which in recent times have been founded in the West, such as Samye-Ling, in Scotland.

Throughout the history of Buddhism the supporters of both these major schools have provided countless fine examples of Buddhist art and built magnificent *stūpas* and temples. As one of the functions of Art is to mirror and another is to inspire then most certainly, the ideals and beliefs mirrored in both the major schools of Buddhist Art are a source of inspiration and encouragement to anyone wishing to follow the spiritual beliefs and ideals they reflect.

Both Buddhist traditions made a huge and impressive contribution to mankind which can be chronicled for over two thousand years and follows the progress the Buddha-Dhamma made as it spread outwards from India in all directions. To better appreciate just how much Buddhism influenced the world and contributed to the world of art and architecture, it is necessary to understand how and why Buddhism spread as far as it did. Buddhism owes its success and its many converts to the catholicity of its appeal and its promise of deliverance from suffering. This is true of both traditions. It also was widely adopted and in some case fully integrated into an existing culture, as was the case in Japan. And this success was possible because of the non-coercive approach of its missionaries. However, Buddhists did sometimes suffer persecution and even death and was the case in India, Tibet and China. Buddhism was also successful because at various times in its history, it enjoyed royal patronage, as for example, that of the great Mauryan King Aśoka and some of the later rulers of India including the Pāla Kings, the last Buddhist Kings of India. Outside India it was embraced by King Tissa of Ceylon, in 247 B.C.E., the Mon ruler of Thaton and later in 1056 by the Burmese King Anawrahta the founder of Pagan, in Siam in the eleventh century by King Rama Khamheng and in 1327 by Cambodia's King Jayavarman VII who ruled from his capital at Angkor. It was also adopted by the rulers of Laos and in the eighth century in Indonesia by King Śailendra who sponsored the building of the largest Buddhist monument in the world, Borobodur. This devotion to Buddhism and the enthusiasm for Buddhist culture shown by these royal converts

and most of their subjects was sincere and the world of art and architecture was all the richer for it.

Another significant factor to influence the spread of Buddhism and indirectly the development of Buddhist Art and Architecture was the tremendous volume of trade, which existed in the ancient world most notably along the Silk Road, which was a trade route not only for goods but for ideas as well. The spread of Buddhism in its homeland of northern India began the day the Buddha and the first sixty *Arhats* went forth to preach the *Dhamma*. "For the gain of many, for the welfare of many, in compassion for the world." Although Buddhism in India was to die out as a result of the revival of Hinduism and in the aftermath of the Moslem invasions in the seventh century, it was able to spread, and evolve and survive in many other places since. The visible proof of this is to be seen in the many examples of Buddhist Architecture.

The size of Buddhism's contribution to the world of architecture is enormous. There are two basic types of structure found in those places where Buddhism spread and developed and they are the *Vihāra* and the *Stūpa*. The word *vihāra*, means "an abode", and its function was two-fold. It was intended to house Buddha images and art and also to serve as a dwelling place for monks. King Bimbisāra donated the first *Vihāra*, Veluvana at Rajagriha to the Buddha himself and his disciples. This was a monastery sited in a Bamboo Grove. Much later on monks would dwell in the shelter of India's caves. One of the most famous cave complexes is the magnificently embellished cave at Ajantā, with its brightly coloured Buddhist murals. Another impressive cave complex is in Afghanistan. As the *Vihāra* evolved in style it was adapted to the climate and terrain of the countries to which Buddhism spread and its design changed and evolved and eventually reflected the cultural characteristics of the lands where either Mahāyāna Buddhism or Theravāda Buddhism had taken root and flourished. The more modern styles of Buddhist temple remain a type of *vihāra*. These structures

are made from a variety of materials such as stone in India and Sri Lanka, and from wood as can be seen at Kyoto and Nara, in Japan. Bricks were also used and some of the surviving temples of Pagan are made of bricks. Sandstone is the material used in the building of Malaysian temples.

The second type of Buddhist structure is the *stūpa* and is itself an object of worship as it was intended to serve as a relic chamber for the Buddha's remains. The earliest examples of the Buddhist *stūpa* were raised in India, as for example the dome shaped *stūpa* at Sanchi, the ancient Dharmekh Stūpa at Sarnath and those built inside the caves at Ellora and Ajantā. In time the basic Indian *stūpa*-design evolved into the Dagoba in Sri Lanka, the Chorten in Tibet and the Pagodas of China, Korea and Japan. One of the finest examples of all is the splendid Shwedagon Pagoda in Yangon. As with Buddhist Art, the materials used in the building of *vihāras* and temples and the various types of *stūpa* and pagoda varied and depended on the materials available in the places where they were built. So we find some *stūpas* are built of marble or other types of local stone or brick and even wood, as was the Goose Pagoda at Chagan in China. Happily in the west where Buddhism is becoming a very popular religion, the artists and architects who work on Buddhist building projects turn to the rich and varied legacy of Buddhist Art and Architecture for their inspiration.

All the Buddhist structures that were ever built by their very existence contributed something to the world and are holy places, places of learning and sanctuary for the people who were to use them and the repositories of some of the greatest treasures of Buddhist Art. They were and those that have survived continue to be a source of personal inspiration for all who saw them either in person long ago or even see them depicted in a drawing or a photograph these days. As was said, earlier Buddhist Art and Architecture mirrors the beliefs, ideas and ideals of both the Mahāyāna and Theravāda traditions.

Buddhism in India together with its art and architecture reached its zenith during the Gupta dynasty, which was established in northern India in 320 A.D. It was to last into the seventh century. The best-known examples of Buddhist Art are from this period and were to form the standard of comparison for all subsequent Buddhist art and architecture both in India and in the rest of the Asian countries where it spread, took root and flourished. The Gupta period also saw the advent of Buddhism's decline in India. It slowly waned for three reasons. First was the rise of Mahāyāna Buddhism in India, which was to bring Buddhism closer to Hinduism. The second reason was that Hinduism enjoyed the support of Kings and underwent a revival. This was so successful that in time it was to absorb the new strongly Mahāyāna influenced Buddhism. The third reason for Buddhism's decline was the various Moslem invasions, the last of which was waged in the seventh century A.D. and was directly responsible for Buddhism's slow decline and fall. However, at this time as we shall see Buddhism spread out of India to Nepal, later on to Sri Lanka and then eastwards to South East Asia and survived.

In short, Buddhism and its art and architecture were to spread geographically outward from India in two directions. One was to the northwest into Afghanistan, Iran and then along the Silk Road to Central Asia and then further east to China, Korea and Japan. This development took place not only because of the activity of Buddhist Missionaries, but also because of the work of those Indian traders and the migration of those Indian emigrants who settled in Central Asia. These people carried both Hinduism, and Buddhism and much of Indian culture with them wherever they went. This is obvious when we look at the wealth of Indian and Buddhist Art, which was created there and can still be seen, today. However, in China, Korea and Japan, Buddhism did not supplant the existing cultures but was totally integrated into them.

At the end of India's Gupta period Buddhism was taken to Nepal, Sri Lanka and to the South East Asian Mainland. This outward

movement was the direct result of the changes taking place in India at the time. Indian commerce also played a part, in Buddhism's spread to these places and were to be greatly influenced not only by Indian culture but also by the work of Indian merchants and monks, who brought with them not only religion but also their country's civilization - writing, art, architecture and methods of ruling as well. The influence of Hinduism was to touch these places before that of Buddhism did, but in time the two coexisted. In the end, however, Hinduism could not endure for long abroad because of the very rigid caste system it supported. Nevertheless, traces of Hindu culture have survived in these places and testify to the great contribution India made over the centuries to the entire Asian world and is still going on. Today India's culture is being carried abroad by the large numbers of Asians emigrating to Australia, Europe, Africa and the United States of America and South America. They are the current carriers of Buddhism and its fourth jewel Buddhist Art and Architecture.

Now, I would like to tell you a true story. The late John Bloomfield, a Buddhist scholar and writer of great repute once told the story of how he first became attracted to Buddhism when he was young. One day, he spied a strange statue in shop in Brighton, Sussex and his curiosity was awakened. When he asked what it was, the shopkeeper kindly told him that it was a statue of a Buddha. Although, he could not afford to buy it then and there, he very much wanted to. For days he could not get the image with its calm and peaceful expression out of his mind. As soon as he was able to afford it, he bought it and it became his most treasured possession and kept it with him always. Seeing that statue was for him a turning point in his life. Later he began a life-long investigation into Buddhism.

Buddhism has been making contributions to the world's cultures through its teachings, its art and architecture for more than two millennium long. May this continue!



Jaina Architecture and Images of Western India under the Western Kṣatrapas

Prof. Rasesh Jamindar*

Preamble

The rule of the western *Kṣatrapa* dynasty extends from the first quarter of the first century after Christ through the end of the fourth century A.D. i.e. from 23 A.D. to 398 A.D. Thus the western *Kṣatrapa* rulers ruled over the then western India almost for four centuries. It seems that the long-rule by this dynasty was obviously the ever first amongst the royal dynasties of India of the historical age. Alike their long-rule, their geographical limits were also very vast comprising almost what we call the present day western India. This means the extent of their sway included Puskar-Ajmer in the north to Nasik in the south and from Ujjain in the East to the entire sea-shore in the West. Thus in the early history of both Gujarat and India the western *kṣatrapas* had carved out their own specific identity by ruling over the vast territory for almost four centuries and so also by contributing in the making of India's heritage.¹

State of the Jaina Faith

To understand the prominence and popularity of Jainism and its art and architecture of the present day western India, it would be hopefully useful to briefly review the state of the Jaina art and architecture of that period which witnessed the powerful long-rule of the western *kṣatrapa* dynasty. Of course, this is a question by itself to be answered. Based as it is on the literary sources, there is a general feeling that Jainism was popular in the then western India.

* *Former Prof. & Head Dept of History, Gujarat Vidyapeeth Ahmedabad.*

For the period under discussion we find the activities of some Jaina *Ācāryas* in western India. The earliest reference to Jainism seems to be that of Neminātha, the 22nd *Tārthāṅkara*. He was born at Dvāravatī (present-day famous Dwarka *Tīrtha*) to king Samudravijaya and queen Śivādevī. It is said that the spread of Jaina faith in western India was started from the time of Neminātha as the scene of his renunciation was laid on mount Girnara.²

Activities of Jaina *Ācāryas*

Coming to the period under review we see some activities of few Jaina *Ācāryas* as namely Mallavādīsūri, Siddhasena Divākara, Nāgārjuna, Pādaliptasūri, Vajrabhūti and Ārya Khapuṭa. All these *Ācāryas* either were hailed from Gujarat or were associated for their activities with Western India. Of these Nāgārjuna was born in Gujarat. Pādaliptācārya visited Dhankpuri (present-day Dhanka in Rajkot district) and had a dialogue with Nāgārjuna. The modern Palitana near Bhavanagar is named after Pādaliptasūri. Nāgārjuna had then installed the image of Pārśvanātha on the bank of river Sedhi and founded the *Tīrtha* Starābhanaka (present Thamana in Kheda district). *Ācārya* Vajrabhūti was from Bharukaccha (modern Bharucha). He was the teacher of queen Padmāvatī, wife of Nahapāna, the western *ḷṣatrapa* ruler of the *ḷṣaharāta* family. Both Siddhasena and Mallavādī belonged to Gujarat. While Mallavādī hailed from Valabhī (the known seat of learning in Western India), Siddhasena's birthplace is not known. Ārya Khapuṭa lived in pre-*ḷṣatrapa* period and was native of Bharukaccha.³ Though all these activities of the *Jainācāryas* show the popularity of the Jaina faith. The archaeological evidence in support is slender, a factor, which seemingly goes against this firmly, rooted belief. Nevertheless, the literary sources do help us in proving the spread of Jainism in this region.

Bifurcation of Jaina Religion

The origin of two sects, namely, Śvetāmbara and Digambara, of the Jaina religion took place in Gujarat according to one Jaina

Anuśruti. Though it may not be considered as very historical, this *Anuśruti* as narrated by Devendrasūri puts on record that the sect Sevaḍa (i.e. Śvetapaṭa Śvetāmbara) was originated at Valabhī in V.E. 136 as per Śvetāmbara tradition and that the origin of Kāmbalika sect (*Vastradhārī*) at Valabhīpura in V.E. 139 (Vīra 609) according to Digambara tradition. Both these references show the importance of Valabhī (i.e. Valabhīpura as main centre of Jainism. This in turn suggests growth of Jaina religion in this region.⁴

Jaina Council at Valabhī

Āgama texts, which were collected at Magadha council, are being shattered with the force of circumstances. To collect and collate these scattered Jaina canons, two councils met at Mathurā and Valabhī under the presidentship of Ācārya Skāndila and Ācārya Nāgārjuna respectively during the first quarter of the fourth century A.D. These written texts were known as *Māthurī-vācanā* or *Skāndilī-vācanā* and *Vālabhī* or *Nāgārjunī-vācanā*. Thus by collecting, collating and editing these Jaina canons western India had contributed much in reviving the tradition of *Āgama* literature. The date of *Vālabhī-vācanā* most acceptable would be *Vīra Nirvāṇa* 827 (or 840)⁵ i.e. either in 300 or 313 A.D. Since most of these texts follow both, Valabhī is particularly noteworthy, and in turn shed more light on the spread and popularity of Jaina faith in western India under the western *kṣatrapa* rule.

Archaeological Source

We can from the foregoing discussion, certainly say that the Jaina religion did exist on firm footing in western India during the early centuries after Christ. Unlike Literary works and religious activities, the archaeological evidences are not much. So far as the art and architecture of the western India are concerned a few surviving Jaina structures and some images of Jaina *Tirthankaras* are available. We now take stock of these archaeological sources.

Sāṇā caves⁶

These are nearly 62 caves spread as bee-hive on the hill of Sāṇā near Una on the bank of river Rupaṇa in Junagadh district of

the state of Gujarat. According to James Burgess these caves are very simple just as caves at Junagadh, Talājā and Dhanka. Most of the caves at Sānā are very much in dilapidated condition. On the top of the hill remains of a foundation with large-size bricks have been unearthed. At a height of 37 meter there is one cave namely Bhīmcorī. Near this there is a *Caityagr̥ha* measuring 6x9 meters with height of 4 meters. Its roof is flat. It has no circumambulatory. Inside the *Caityagr̥ha* there is a simple *stūpa* having no decoration of any sort. There are also two small *Caityagr̥has* in the rooms near this.

H.D. Sankalia suggests that these rock-cut caves are of Jaina faith. U.P. Shah has opined that they belong to Buddhism. These caves do not oblige us with any symbols of either faith. Thus it is difficult to say who were the occupants of these caves.

Both Burgess and Sankalia consider that the very caves might have been carved out in the beginning of the Christian era. But the large-size bricks found on the top of the hill, flat roof of the *Caityagr̥ha* and such other structural material indicate that these caves were constructed during the second century A.D.

Bāvā Pyārā Caves⁷

These caves are situated on the eastern outskirts of the city of Junagadh. Near these caves at present there is one monastery known as ‘*Bāvā Pyārāno Maṭha*’. For the sake of convenience according to archaeological tradition these caves are named after this present monastery. Burgess has given an elaborate description with illustrations. Later on Sankalia has also described these caves in detail. Hence no need arises to describe them again. Therefore, here we will discuss the problems pertaining to its date and occupancy.

Who the occupants were of these caves, I feel, is not easy to decide. Burgess has opined that these were originally excavated for Bauddha Bhikṣus but later on may have been occupied by Jaina Munis. The conclusion he drew, on the question of occupancy on the basis of the fragmentary inscription found from these caves, as there is a mention of one of the Jaina technical terms, namely, *Kevala-*

jñāna. The epigraph thus runs 'kevalijñāna samprāptānām jitjaru marañānam.. Sankalia seems more positive in asserting that these indeed were the Jaina caves. Impressed just as influenced by the peculiarly Jaina term under reference, he further feels sure that symbols carved over the doorframe of one of those caves are Jaina. These are some eleven symbols⁸ of auspicity, of which the *Svastika* the *Bhadrāsana*, the *Mīnayugala*, the *Pūrṇaghata* and the *Darpaṇa* are clearly recognised. Sankalia finds similarity of these symbols with those carved on the *Āyāgapaṭas* on the Jaina *Stūpa* in Mathurā.⁹

Now from one of the caves, this author has noticed another group of five symbols on one other doorframe not so far reported. Although in bad state of preservation, the symbols may be identified, in sequence, as *Darpaṇa Mīnayugala Pūrṇaghata* again *Mīnayugala* and once more the *Darpaṇa* neither Burgess nor Sankalia mentions them.

Let us therefore, reappraise the problems of the affiliation and date of the *Bāvā Pyārā* no caves.

Worship of an Image of a Tirthankara

It is generally believed that an image of a *Tirthankara* must be installed for worship in a Jaina monastic settlement. This belief can be supported by many references through the ages. The earliest known *Jina* image is from the oldest Jaina temple of Lohānīpura near Patna in Bihar, from where two torsos of *Jina* image of Mauryan workmanship were found. They are now housed in the Patna museum. The Hāthigumphā inscription of Khāavela mentions in its twelfth line that the king Khāavela of Kalingadeśa conquered Bṛhaspati and brought back the image of Kalinga *Jina* which was formerly taken away by Naṇdarājā. A splendid image of Pārśvanātha was found in the group of caves on a mountain nearly 20 kms. east-north of Usmanabad in Maharashtra. This image is said to belong to the sixth century B.C. We have come across many Jaina images of the Kuṣāṇa age at Kaṅkalītā in Mathurā, of which as many as forty-seven images are also preserved in the Patna museum''.

It seems from these evidences that the practice of worshipping *Jīna* image also prevailed side by side with worship of *Stūpa*, the *Caitya* tree and the like, that is in the first three centuries after Christ, during which period the Bāvā Pyārā caves were excavated. The absence, therefore, of *Jīna* image from the caves under reference is very significant, in as much as it disproves the Jaina nature of these caves. This inference is further corroborated by Dhanka caves, which will be discussed hereafter, of the period and very close to that of the Bāvā Pyārā caves, from where some Jaina images have been found out in situ these caves, as they seem to indicate, were the earliest Jaina settlement in this area.

Whereabouts of Fragmentary Inscription

We have noted earlier that one inscription was found from one of the cells of the Bāvā Pyārā cave. But there is no evidence that the fragmentary inscription was set up in or fixed on any of the cave's walls of the Bāvā Pyārā group of caves. It is difficult to aver that it belonged to these caves. Probably, it might have been brought here from elsewhere at a much later date. The inscription is engraved on soft calcareous sandstone, while the caves were scooped out of a harder stone. This difference in texture and kind conclusively proves that the inscription did not originally belong to these caves, though it is doubtless Jaina. Hence this inscription helps neither in knowing the affiliation nor in fixing the date of the caves.¹⁰

Symbols & Occupants of the Caves

Earlier it has been mentioned there are symbols on doorframes at two different cells of these caves, of which one group consists of eleven symbols as Sankalia noted and the other doorframe has five symbols as this author has noticed. These two groups of symbols are confusing. Instead of traditional eight symbols¹¹ there are eleven and five. Of these only five out of eleven can be recognised as mentioned earlier. But the more characteristically Jaina symbols, such as the *Nandyāvarta* and the *Vardhamāna* are conspicuously missing here. The *Svastika*, the *Bhadrāsana*, the *Śrīvatsa* and *Pūrṇaḡhaṭa* etc, are

found with other religious faiths too. So their usefulness in ascribing these caves to the Jaina creed must remain dubious. The *Svastika* here is wrongly defined because its upper horizontal end is toward the left rather than on the right, as the photographs given by Burgess shows. It is also possible that the negative film might have been printed wrongly. If so then *Svastika* symbol may go on right end instead the left one and there is no problem.¹²

Taken as a whole then, the symbols do not conclusively prove that the occupants of Bāvā Pyārā caves were Jains.

Now to the Date

Burgess, who was the first to take into account these caves very comprehensively, says nothing about the date of Bāvā Pyārā caves, in his book.¹³ But later on he discussed the date and mentioned that they belong to an early date in his another famous work.¹⁴ But his very statement of his, is very vague. He does not say how much early the caves were. So he keeps his fingers crossed regarding the date, even approximately.

Sankalia places the date between 200 B.C. and 300 A.D. He thinks that the caves containing *Caitygr̥ha* are of the second century B.C. and those with symbols carved may have been carved during the second and third century A.D.¹⁵

This author while examining these caves personally had noticed two *Vyāla* figures each on both sides at the lower end of a small entrance at the south end of the second row of this group. Both Burgess and Sankalia did not seem to have noticed these significant *Vyāla* figures, which in point of fact, are a good means for fixing the date of Bāvā Pyārā group of caves. M. A. Dhaky dates such western India *Vyāla* figures to the fourth century A.D.¹⁶ Following this dating and comparing our *Vyāla* figures with those he mentions, one may come to the conclusion that these caves must have been carved during the later half of the second century A.D. or we may place them in the first half of the third century A.D. for the simple reason that *Vyāla*

figures from the Bāvā Pyārā are cruder and plainer in style than those in the Junagadh Museum.¹⁷

Dhank Caves

Situated on a hill known as Dhankagiri (in the vicinity of Dhanka village in Upletā Tālukā of Rajkot District) these caves are 48 kms. north-west of Junagadh. In Jaina literature and *Prabandhas* this village of Dhanka has been many times referred.¹⁸ This hill is adorned with images. According to Burgess they are probably Baudha. While Sankalia suggests that they are *Jina* images.¹⁹ The reference to Dhankagiri as a Jaina *Tirtha* in Jaina literature corroborates the view of Sankalia.

Jina Images

On the western edge of this hill there are some caves. Of these the first one, which is located horizontally north-west, has an entrance only 1.5 meters high. Its inner portion is 0.75 metre lower than the outer level. In this cell there are three niches, of which one is facing the door and one on each side of it. All the niches have *Jina* images. The image facing the door is seated on a *Sirḥāsana* with hands in *Yogamudrā* and *Cāmaradhāriṇīs* on both the sides. Because of the absence of cognisance it is difficult to identify the image. But according to Sankalia it represents Jina Ādinātha. Burgess considers this as Buddha image, for reason that there is one step-well near the Dhankagiri known as Mañjuśrī Vāv, which is not acceptable.²⁰

Two other images on both the sides of this cell are seated in *Padmāsana* with body erect and motionless. Their hands are placed in *Yogamudrā*. Over the head of these images is carved a triple umbrella indicated by three strokes. On both sides of these images there are *Cāmaradhāriṇīs* and *Vidyādharas* on the above. The Mṛga cognisance in the middle of the seat helps identifying this image as Śāntinātha, the sixteenth *Thīrthankara*. On both the ends of the seat we find lion figures. The nicer image here is that of Pārśvanātha, the twenty-third *Tīrthankara*. It stands in *kāyotsarga* posture with impressive canopy of cobra-hood behind the head. This is the only best preserved image

from Dhankagiri. There are other images too, but for want of cognisance it is not possible to recognise them. All these images are nude. Amongst other sculptures there are attendant-figures associated with the *Tirthankaras* namely, Ambikā and some Yakṣa.²¹

Date for the Caves

Images and sculptures from these caves do help us in dating them. Burgess does not say anything about the date of the Dhanka caves. But Sankalia does think that caves on the Dhankagiri were dug around 300 A.D. on the basis of the sculptures. This view of Sankalia remains confirmed by the nudity of the *Jīna* images. Now it is well known that we do not find a *Savastra* (clad) *Jīna* images sculptures is very inferior to those from Devnī Morī. Buddha images of Devnī Morī are draped in *Saighāṭi* and were moulded around 374 A.D.²² It seems possible that images from Dhanka might have been sculptured during the first half of the fourth century A.D.

Conclusion

However, for all its limitations, the Jaina art and architecture of Western India deserve the scholar's attention, especially in the light of the fact that the images and monuments of Gujarat are fewer in numbers. The foregoing discussion not only shows the state of popularity of Jainism in Western India during the reign of the Western *kṣatrapas*, but also sheds more light on the problems of their affiliation and date. This survey is only intended to stimulate further intensive study and research of the spread of Jainism in Western India on the basis of archaeological and literary evidences.

References:

1. For the western *kṣatrapa*'s contribution in the making of Indian heritage see *Kṣatrapakālnuñ Gujarat* by Resesh Jamindar (Gujarat Vidyapith. Ahmedabad, 1975) and *Itihāsa Saṁśodhana* (Rasesh Jamindar, *Ibid*, 1976).
2. But to substantiate this there is no archaeological evidence available. This, therefore, does not help us in deciding about the question of early popularity of this religion.

3. For having the idea of the activities of these Jaina Ācāryas in this area see Rasesh Jamindar, *Op.Cit.* 1975 Chs, 8&9 and *Op.Cit.* 1976 ch. 10,18 & 25.
4. *ekkasah chattīse vikkam rāyassa maraṇatassa / soraṭhe balahāye uthaṇo sevaḍo saṃgho // Darśanasāra, v.11 chbbasa sayehim nauttarehī taḍaya siddhigayassa vīrassa/ kambaliyānaṃ dikki valāha yuriye sabhuannā// Pramāṇa-lakṣaṇa* by Jinasūri
see also Devasenasūri's *Bhavasamgraha* (stanzas 52-75)
5. Taking into account all the known evidences and aspects regarding *Nirvāṇa* of Mahāvīra Muni Kalyānavijayajī clarifies that this episode certainly took place either in October or November of 528 B.C. (*Jainakālaganaṇā* or *Vīranirvāṇa Saṃvata*, Jhalor, 1931)
6. James Burgess, *Report on the Antiquities of Kathiawar and Kutch*. London. 1876. pp. 149 ff, plate no 29 H. D. Sankalia, *Archaeology of Gujarat*, Bombay, 1941. pp. 52-53; U.P. Şah. "Gujarātmān Baudha Dharma" *Svādhyāya*, Vol.1 issue No. 3 P; 186 Rasesh Jamindar, *Kṣatrapakālanuṅ Gujarat*, Ahmedabad, 1975 P. 190-91
7. James Burgess. *OP.Cit.* pp. 140 ff. H.D. Sankalia *Op.Cit.* 48 ff. Rasesh Jamindar. *Gujarātno Sānskṛtika Vārso*, Ahmedabad. 1990, pp. 17 to 23. and also *Kṣatrapakālanuṅ Gujarat*. pp. 173-180
8. But I think there are twelve symbols. Between the symbols 5 and 6 from the left, there is a sign for a symbol. Unfortunately it is not easy to identify it.
9. V.A. Smith, *Jaina Stūpa and other Antiquities of Mathurā*, Allahabad. 1901.pp 14 ff.
10. U.P. Shah. *Studies in Jaina Art*, P. V. Reserach Institute, Banaras, 1955 pp. 4-14. also refer Hiralal Jain, *Bhāratīya Sanskṛti men Jaina Dharma kā Yogadāna*. 1965. pp 307-312.
11. For more details see Rasesh Jamindar, *Kṣatrapakālanuṅ Gujarat*. 1975 pp. 174-178 and *Gujarātano Sānskṛtika Vārso*, 1990. pp. 17-20

12. These traditional eight symbols are: *Svastika*, *Śrivatsa*, *Kumbha*, *Padmāsana*, *Naṅdyāvarta*, *Vardhamāna*, *Matsyayugala* and *Darpaṇa* (see *Vividhapūjā Saṅgraha* P. 402)
13. See Rasesh Jamindar, *Reflections on the Jaina Caves in Gujarat, Aspects of Jaina Art and Architecture*, editors- U.P. Shah & M.A. Dhaky. Ahmedabad, 1975, PP. 75-79.
14. *Report on the Antiquities of Kathiawada and Kucch*, London, 1876.
15. *Cave Temples of India*, London. 1880
16. I had taken this picture in the monsoon of 1962. For want of flashgun the picture did not come out to satisfaction.
17. M.A. Dhaky, *The Vyāla Figures on the Medieval Temples of India*, Varanasi, 1965. PP.11. fig. 6
18. Dhaky puts the Junagadh Museum Vyāla figures in late Kṣatrapa period (see, *ibid*, pp, 30, fig. 6)
19. Jinabhadraṅgi, *Purātana Prabandha Saṅgraha*, Calcutta, 1936 (ed. by. Jinavijayajī), PP. 91-93. Rajshekarsūri, *Prabandhakośa*, Calcutta, 1935 (ed, by Jinavijayajī) pp 13. 84-85, and Janaprabhasūri, *Vividhatīrthakalpa*, Calcutta, 1934, (ed by Jinavijayajī)
20. Burgess. *OP.Cit.* 1876. P. 150 and Sankalia, *Op. cit.*, p.53. 166-68.
21. U.P. Shah writes that the difference between images of the Digambaras and the Śvetāmbaras was posterior to the Kuṣāṇa period. *Studies in Jaina Art*, Banaras, 1955. p.11)
22. R.N. Mehta & S.N. Chowdhari, *Excavation at Devnī Morī*, Baroda, 1966, p.141. U.P. Shah. in *Op. cit.* p.17. Footnote 5 states that "It is not possible to assign to the sculptures a date earlier than 7th century A.D."



The Concept of Mind (Manas) in Jaina Philosophy

Dr. S. P. Pandey*

The Oxford Dictionary¹ reads the meaning of word 'mind' as 'the seat of a person's consciousness, thoughts, volitions, and feelings; the system of cognitive and emotional phenomena and powers that constitutes the subjective being of a person; also the incorporeal subject of the psychical faculties, the spiritual part of human being; the soul as distinguished from the body'.

The mind (*manas*) *mana* is a widely discussed subject in Indian tradition. In Indian philosophy there is not a single system, which does not deal with the concept of mind. Some are more epistemological in their analysis of the concept, while the others are psychological. The whole literature on the subject in the West gives diverse points of view conflicting with each other. The point of difference centers around the relation between mind and body. The basic difficulty arises because of the fact that all these thinkers differentiate mind from body on the one hand and equate mind with the self on the other hand. If the mind is pure body then how to solve the problem of will? If it is considered as pure-self, the problem of physical perception remains unsolved. These two, mind and body, as Ryle says, do not lend themselves to disjunctive treatment.

The word, '*manas*' literally means 'measuring' and it was used in this sense in the early Vedas and Brāhmaṇās. *Manas* considered being part of that which was designated by name, *nāma*. It is an activity in the life of a man, by which he measures his wisdom, pleasures, etc. In the *Vājasaneyā Saṁhitā*, the conception of mind as a psychical entity is fully discussed. In the very first verse of the text

* Asst. Director, Parshwanath Vidyapeeth, Varanasi

of the *Saṁhitā* mind is characterized as something; 'which goes out a far'². It is not a gross physical sense organ, for then, it cannot be conceived as going out of the body nor it can be the soul of self for the same reason. Further, in its third verse it explains three fold division of mental activities, viz. intelligence, feeling and resolution and the description of mind as that which is responsible for all accomplishments³. In Upaniṣads⁴, through different similes, the mind is discussed not as gross but as subtle matter. Their senses are said to be gross derived from the subtle elements. These subtle substances are higher than the senses for they are the cause of the senses. Then mind with the original non-perceptual qualities such as will and desire is subtler. Even greater or subtler than this is the intellect, for it is that which determines. Greater than that is *Hiraṇya-garbha*, the central self of all existence. It is said to be *annamaya*, of the form of matter, in *Chāndogya Upaniṣad*⁵ where Uddālaka instructing Śvetakētu in the lore of *Brahman* tells him that when food is eaten, the finest part of it becomes *manas*. In the *Bṛhadāraṇyaka Upaniṣad*⁶, we find *manas* treated as sense organ i.e., as an instrument of knowledge with a psychical basis. To link up matter, which is gross, and self, which is pure-consciousness, *mana* or mind, which is a subtle matter capable of reflecting consciousness, is necessary. The concept that *mana* is subtle matter is common to almost all systems of Indian philosophy.

In western philosophy the mind means both, the self as well as the totality of conscious states, where the self gets its manifestation. In both cases it corresponds to the soul or the psychic activity of body. It is never applied to the instrument of those activities as the *mana* is generally conceived in Indian thought. The common tradition is to accept *manas* and mind as synonyms. Indian Philosophers have different views about the *svarūpa* (nature), *kāraṇa* (material cause), *kārya* (function), *dharma* (attributes) *adhīsthāna* (locus) etc. of the *manas*.

According to the Nyāya - Vaiśeṣika⁷, mind is an internal sense. It is atomic in size and moves around the external senses. Its contact

with the soul is an essential condition for knowledge and thus, it controls the non-occurrence of much or more than one cognition at a time. The contacts of the objects, the sense organ and the soul, depend upon some other cause, in bringing about of the due effect, because even when the former contacts exist, the necessary effect does not appear.... and this instrumentality upon which they depend is that of the mind. Unlike the other senses it is not made of any of the physical elements. It is beyond the sensual perception and can be known through inference only. The mind does not possess any of the physical qualities; consequently its objectivity is not confined to any of them. It is a common instrument for all types of knowledge. But, the subjective qualities of pleasure, pains etc. are directly perceived by the mind. Doubt, dream, memory, inference and other types of indirect knowledge are purely subjective, and therefore, apprehended by the mind.

Some of the Naiyāyikas (Gaṅgeśa in his *Tattvacintāmaṇi*)⁸ enumerates six senses, the traditional five and the mind. But this position of Naiyāyikas lands them in several epistemological difficulties. A sense organ, epistemologically, would mean the special and instrumental cause of the perceptual knowledge only. In this context an *indriya* is one, which gives direct and immediate knowledge. Probably, in this sense, since mind is the cause of the direct awareness of pleasure and pain, we may consider mind to be an organ of sense. But there are other activities in which mind is involved, such as perception, where the function of mind is no more direct but indirect. What is directly contacted by the senses is received and presented by the mind to the self. Thus mind is a *sādhāraṇa-kāraṇa* (auxiliary cause) to all perceptual knowledge⁹. Mind seems to be then a liaison between the objects and senses on the one hand and self on the other. It acts as special instrument in direct perception of pleasure and pain. The Vātsyāyana maintains that the fact of mind being a sense organ naturally follows from the lack of repudiation as well as enumeration of it as a sense organ in the works of other schools¹⁰.

The Prabhākara Mīmāṃsaka proves the existence of mind by pointing out that the qualities of the self such as *buddhi*, pleasure, pain etc. would never become manifest but for the activity of mind. They maintain that contact of the mind¹¹ with soul is necessary before cognition can take place. They also maintain the atomicity of the mind. Mīmāṃsakas view of mind resembles with the Nyāya-Vaiśeṣika concept of mind.

In Vedānta *manas* is not a comprehensive term. It is a particular state of *antaḥkaraṇa*, which includes all types of mental states. The *antaḥkaraṇa* is an evolutes of *avidyā* and occupies the entire body. It involves the empirical self of the Vedānta, a condition of pure consciousness, limiting the latter into body and thus constituting the person or *Jīva*. It goes out through the senses and establishes the threefold identity. The qualities of pleasure, pain etc. are apprehended by *antaḥkaraṇa* itself. Thus this internal organ controls and rules over the organs of sense perception. It is preceptive agent. *Buddhi* which is the determinative aspect of *anataḥkaraṇa* is understood in five ways/conditions, corresponding to cognitive organs¹² viz.. the condition of suspense (*saṁśaya*) is expressed by *manas*; that of judgement (*niścaya*) by *buddhi*; vanity (*garva*) by *ahankāra*, consciousness by *citta* and recollection by *smṛti*. Śaṅkarācārya¹³ says that mind is included under sense-organs on the authority of *Smṛti*.

The Sāṅkhya-Yoga systems hold that mind is an evolutes of ultimate real, *guṇās*, which are the constituents of Prakṛti, the primary substance. Prakṛti is the primal matter which is the state of equipoise of *sattva*, *rajas* and *tamas*. It intellicized through the reflection of Puruṣa. Sāṅkhya recognises eleven senses: five organs of knowledge, five organs of action and mind as the internal organ.¹⁴ The basic Sāṅkhya emphasizes the twin-functions of the mind- the sensory and the motor. In this respect it partakes of the function of the organs of knowledge (sensory) and organs of conation (motor). Iśvarakṛṣṇa in his *Sāṅkhyakārikā*¹⁵ clearly states mind as a sense organ. Vijñānabhikṣu¹⁶ holds that mind alone is alone of the pure *sāttvika*

form, whereas the other ten sense organs are due to the prominence of *rajas* and the elements are due to the *tamas*. The treatment of mind in Yoga, while accepting the above ontological states, is for the most part psychological. It is difficult to ascertain whether mind was designated as a sense-organ by the authors of *Yogadarśana*¹⁷ and its *Bhāṣya*. Sāṃkhya conception of mind resembles the Vedānta conception in many ways.

Buddhists were the first to recognize mind as a sense organ¹⁸. They recognise six types of consciousness: visual, auditory, olfactory, gustatory, tactile and purely mental. Corresponding to these varieties there are six bases (*āśrayas*): the organs of vision, audition, smelling, tasting, touch and consciousness itself; and there are six objects (*viśayas*): colours, sounds, smells, tastes, touches and ideas¹⁹. Thus there are six senses including mind. The mind is the faculty of intellect that cognises non-sensory objects.²⁰ They hold that mind splits into two chief parts—the subjective and objective. The subjective parts, or mind viewed as a receptive faculty, are represented by one element called, indiscriminately, *citta*, *vijñāna* or *manas*. It represents pure consciousness, or pure sensation, without any content. Its content is placed in the objective part, which contains the definite sensation (*sparsā*); feelings (*vedanā*), ideas (*saṃjñā*) volitions (*cetanā*) and various other mental phenomena up to the number of forty-six separate elements. So, it is that feelings come to be viewed as objects of the mind. Out of the 75 elements known as *dharmas* in Buddhism, 64 belong to the mental group (*caitta dharmah*). To this we can add *citta* or the mind as a receptive faculty. The remaining ten are five senses and the five objects are differentiated from the mind and mental elements as being material (*rūpiṇah*) while the latter are immaterial (*arūpiṇah*). Besides the forty-six mental phenomena the mind contains fourteen elementary forces (*viparyukta saṃsakaras*), the element of character and the three elements, which are eternal (*asaṃskṛta*): among the latter is *Nirvāṇa*, the chief *dharma*. The common feature of all these elements is that they are apprehended by

the intellect directly without any intermediate agency of the senses. In the apprehension of the sense objects there is likewise participation by the intellect; but these *dharmas* are non-sensuous objects; they are the exclusive domains of respective intellect, just as color is the exclusive domain of the sense of vision. The Buddhist does not regard the soul as different from mind.

Jaina Concept of Mind

The Jaina concept of mind is different from that of the other schools of Indian philosophy, as it does not consider mind as one of the sense organ. They maintain that mind is a particular material substance. It is considered as the organ of apprehension of all subjects of all the senses²¹. It is also designated as *anindriya* or *no-indriya* i.e. *quasi-sense*, subtle sense (*sūkṣma-indriya*) or inner sense (*antaḥkaraṇa*). It seems that when the problem whether mind should be designated as a sense-organ presented it before the non-Buddhist thinkers, they tried to clarify their position by deducting its status of a sense-organ from the implication of their own ancient text. The Jainas, however, adhered to their old position of regarding mind as *anindriya*. Thus whereas Vātsyāyana referred to other schools (*tantrāntara*) and Śaṅkarācārya to some *smṛti*-text, the Jaina thinkers thought it proper to admit it as an *anindriya*. The antiquity of this Jaina conception depends upon the antiquity of their conception of twenty-eight types of *ābhinibothika-jñāna* (perceptual cognition) which includes *no-indriya avagraha* (quasi-sensuous indeterminate perception), *no-indriya ihā* (quasi-sensuous speculation) etc. Perhaps the Jaina concept of mind as a quasi-sense is as old as the Buddhist conception of mind.

Now a question arises as to why the different schools took so much pain to win the title of a sense-organ for mind, while the Jainas did not care for it. The non-Jaina schools unanimously agreed that the knowledge born of the contact of the sense-organs with the object is *pratyakṣa* (*direct cognition*). When the problem regarding feelings of pain and pleasure etc. which are obviously independent from the

sense-organs presented itself, it was but natural to accord the mind the status of sense-organ otherwise the cognition of pleasure, pain etc. would not fall under the category of *pratyakṣa*. Besides this the *yogaḥ-pratyakṣa* (transcendental perception) was also to be accounted for. In order to meet this problem the non-Jaina thinkers had to conceive of the 'sixth organ' as also of the same kind as the other five sense organs. Hence, it was *manas* (mind), which accorded the status of a sense organ. The Jaina philosophers faced no similar difficulty for they considered the knowledge derived through the sense organs as well as mind to be *Parokṣa* (indirect)²². They considered mind as *anindriya* (not-sense) and as a no-*indriya* (quasi-sense). The term 'no' or 'not' in this case, do not mean negation but comparatively lesser degree of the character of sense. In the *Sarvārthasiddhi*²³ Pūjyapāda maintained that 'Just as a girl is called *anudāra* (without uterus) not because she does not have an uterus but because her womb is so small that it does not possess the capacity of conceiving, so also the mind is called *anindriya*, since it is not of the rank of the ordinary sense organ. Though mind also is a source of knowledge, it is regarded as no-*indriya*; because, it is dependent on other senses for grasping the external objects. It is a common factor in all cognitions. The object of other senses is fixed but the mind is not confined to any of the physical qualities. It is capable of apprehending the past and future also. The main function of the mind is thinking. It arranges the data given by the senses.

According to Jaina traditions, of course Buddhists also agree with that *manas* is neither ubiquitous nor atomic in size; they regard it of *madhyama-parimāṇa* (medium-sized) as well as produced entity. Buddhists hold that *manas* is of the nature of *vijñāna* (cognition) and in the form of the cognition of one particular moment it is a peculiar type of cause (technically called *samānāntara kāraṇa*) of the cognition of succeeding moment.

Jainas hold that like other senses the mind also is divided into two varieties the physical mind (*dravyamaṇa*) and the psychical mind

(*bhāvamana*). In *Viśeṣāvaśyaka-bhāṣya*²⁴ we get description of two phases of mind. The physical mind is material, constituted of *manovargaṇā*²⁵. It occupies the whole body. The Digambaras admit the heart as its abode; and of the shape of a lotus with eight petals²⁶. The psychological mind (*bhāvamana*) is the power or activity of the self-resulting into various states of experience. It is the conscious activity.

In the *Nandī* and *Anuyogadvāra*, the ordinary perception is confined to the five external senses. Mental cognition is not regarded as perception. But, in the later stage the apprehensions of pleasure, pain etc. are included into perception. In the Āgamic period feeling has no relation with the mind. It is affected by *Vedanīya-karman* and directly connected with the soul. Even the animals without mind, feel pleasure, pain etc. The *Arhats*, who generally do not apply the mind to any psychic activity, are said to feel favorable or unfavorable experiences directly through the soul. In this stage the mind is purely connected with the function of thinking,

The Vedānta, Sāṃkhya and Buddhist assign the qualities of pleasure, pain etc. to mind only. The Jaina says that they are the qualities of the self-mixed with karmic matter.

The Function of Mind

The function of mind is knowing and thinking. *Sthānaṅga* describes it a *saṃkalpa vyāpāravati*. It is also referred to as *cittamanovijñāna*. *Viśeṣāvaśyaka-bhāṣya*²⁷ defines *manas* in terms of mental process. The mind gets knowledge through the senses but necessarily in all forms of knowledge. Mind can also have its own function without any stimulation received from the senses. It is *manojanya-jñāna*. Such psychic function of the mind can be mentioned as *ihā* (integration), *avāya* (association) *dhāraṇā* (retention), *smṛti* (memory), *pratyabhjñā* (recognition), *tarka* (implication), *anumāna* (reference) and *āgama* (knowledge from testimony).

Accepted term for the function of mind is *saṃjñā*. It is divided into many ways.

The First Division:

According to the first division it has three varieties:

1. **Dirghakālikī**- the sense of keeping the past impressions into memory and reflection on the future. This sense is found in the kingdoms of heaven and hell and in the womb-born (*garbhaja*) animals. The division of *samjñis* (with mind) and *asamjñis* (without mind) depends mainly on this sense²⁸. 28 Only those who have mind can possess this capacity²⁹.

2. **Hetuvādiki**-the sense of acceptance or rejection of an object after proper consideration of its advantages or disadvantages. This sense is found in all the mobile (*trasa*) animals; which can move from place to place according to their interest.

3. **Dṛṣṭivādupadesiki**- a being having right faith and possessed of knowledge due to subsidence-cum-destruction of kārmic veil is called *samjñi* from the point of view of *dṛṣṭi*. This sense is found in the persons with right attitude (*samyagdṛṣṭi*) only. The above division of *samjñā* is related to the higher-grade animals only.³⁰

(2) The second Division:

According to the second division the *samjñā* is divided into two varieties of (a) knowing and (b) feeling:

(a) The variety of knowing relates to the five types of knowledge, *matī*, *śruta*, *avadhi*, *manahpariyaya* and *kevala*.

(b) The variety of feeling is divided into the following four types:

(i) **Āhārasamjñā**- the feeling of hunger. It is affected by the rise of corresponding *Vedanīya karman*.

(ii) **Bhāvasamjñā**- the feeling of fear; affected by the *Mohanīya karman*.

(iii) **Maithunasamjñā**- the feeling of sexual desire, affected by *Mohanīya karman*.

The *Bhagavatī-sūtra* adds six more varieties; i. e. the four passions (*kaṣayas*), *oghasamjñā* and *lokasamjñā*. *Oghasamjñā* is, the habitual feeling without any explicit psychic consciousness. It is just like the activities of unconscious mind *lokasamjñā* are the ordinary type of articulate cognition.

In the *Ācārāṅga*, there are six more *samjñās* of (i) *Moha*, (ii) *Dharma* (iii) *Sukha*, (iv) *Duḥkha*, (v) *Jugupsā* and (vi) *Śoka*.

The above types of *samjñās* are common to all the mundane being. They are found in the one-sensed animals also.

The Problem of *Samjñin* and *Asamjñī*:

In the Jaina biological evolution only a particular section of the five-sensed animals is regarded as *samjñin*. All other animals are *asamjñins*. This division is roughly based on the possession of mind or otherwise. The animals with mind are known as *samjñins* and others without mind as *asamjñins*. But, at the same time it is held that *Mati* and *Śruta* are common to all the imperfect souls. We have divided *mati* into three types of *indriyanimitta* (produced by the senses alone), *anindriyanimitta* (produced by the mind only) and *ubhayanimitta* (produced by the both). The first type of *mati* is possible in the one-sensed animals also, as they also possess the sense of touch. The *śruta* is caused exclusively by the mind; so it cannot exist in the lower grade animals that are without mind. Jinabhadra tries to explain this inconsistency by holding the division of *samjñin* and *asamjñin* as based on the physical mind; which is not completed in the lower grade animals. Their activity is mere instinctive and not rational. But, as far as the psychological mind is concerned, they are not absolutely without mind. They also possess the power of thinking or feeling to a certain degree. The trees, though one-sensed in physical consideration, exhibit a clear sense of feeling, the favorable or unfavorable touches, But, this contention of Jinabhadra, goes against the theory of cognitive causal system. The psychological sense does not function without the help of physical sense. According to the same

principle, the mind is impotent without the physical mind, consequently, the phenomena of mental activities cannot be explained in the case of *asaṃjñīns*.

The only possible explanation of this division is that the negation in the case of *asaṃjñīns*, does not mean total absence, but an undeveloped condition or an indistinct presence of it.³¹ The mind of the lower grade animals is not so developed as amounting to rationality. This view is further confirmed by the first division of *saṃjñā*, stated above. The animals by instinct also possess mind in undeveloped form; and consequently, they have *śruta* also.

The Object of Mind:

According to the Non-Jaina systems mind is an essential condition for all types of psychic function. It is only the Vedānta, which holds certain qualities as *sākṣībhāva* (cognised by the pure soul). But, as far as the cognition of external things is concerned also holds *antāhkarāṇa*, as an essential condition. The Jaina does not favor this view. The *Nandī* clearly holds the sense cognition as different from the mental cognition. The first is *pratyakṣa* while the latter is *parokṣa*. All types of *parokṣa* in the logical period, except Āgama are included into *parokṣa-mati*. Akalaṅka includes them into *śruta*; but this difference is related with the fixation of a demarcation line between *mati* and *śruta*. Akalaṅka includes all types of mental cognition into *śruta*. As far as the sense cognition is concerned he does not differ from the *Nandī*.

Thus, mind is not an essential condition for all types of knowledge. In the logical period it is held that mind functions in the case of sense-cognitions also. But, that is an external influence. We have stated the variety of *mati* exclusively related with the senses. In such cases the soul cognises the object through the medium of senses, without depending upon the assistance of mind, just as in the case of supersensual cognition, it does so directly. It is another thing that in the case of *saṃjñīns*, the mind begins to function as soon as an object is presented.

In the case of supersensual cognition of *avadhi* and *Manah-paryaya* the role of mind is finished with the desire to know a particular object; after knowledge it begins to function again for the creation of favorable or unfavorable attitude. In the case of an omniscient it is observed from that function also. Similar, is the case with sense-cognition. It (mind) functions in creating a desire to know a particular thing. It has nothing to do with the stage of sensation. It functions again for creating the particular attitude. But the stages of desire and attitude are not cognitive stages. They are result of *Mohaniya Karman*. Here, the mind does not function as an instrument of knowledge, but that of feeling or willing.

The mind as an instrument of cognition is related with the four types of imperceptual knowledge. They are memory, recognition, hypothetical judgement and authority. In the Āgamic period these types are expressed along with *mati* or *śruta*. No doubt, the feelings of pleasure, pain etc. are directly related with the mind. But, they are not cognitions. The four types of passions (*kaṣāyas*) and nine types of mild passions (*nokaṣāyas*) also are related with the mind, but those also are not cognitions. In the four stages of *avagraha* etc. the mind begins to function from the stage of *Īhā*, which is a mental inclination towards judgement. Here, it operates upon the data supplied by the senses. According to Jainism *mati* advances from general to particular. This process consists in doubt, inclination and judgement. All these stages are mental phenomena. In the animals without mind these states do not occur, such animals get sense-impression and react habitually. For, the states of doubt etc. the memory of past impression is necessary. It is not possible in the lower grade animals. They cannot retain the memory of past events. The flies set on the same thing even if they are hundred times blown away. They cannot be rational. Memory is the quality of a developed mind. Similarly, the power of retention (*dhāraṇā*) also is a mental quality.

The above discussion leads us to the conclusion that mind is an instrument of knowing as well as the other psychological activities

offering and willing etc.. The external senses are related with knowing only. In the case of knowing the mind is further analysed in two varieties. It serves as an instrument of an independently recognised category of knowledge, as in the case of memory, inference etc. It also serves as an instrument of the development of sense cognition. As a matter fact both types are fundamentally the same. The elements of memory and inference exist in both cases. But, in one case they are independently recognised whole in others they are secondary to the sense cognition. This division does not exist in the *Āgamic* period. It was introduced by the logical period, where the question of inference etc. came into prominence with the impact of the Navya-nyāya.

Reference:

1. The Oxford English Dictionary, Prepared by J.A. Simpson & E.S.C. Weiner, Second Edition (Vol. IX) Clarendon Press Oxford, 1989, pp. 799.
2. *Vājasaneyā Saṁhitā* 30,4,1-6
3. *Ibid* -Verse-3
4. *Kauṣītaki Upaniṣad*- 3/8
5. *Chāndogya Upaniṣad*- 6.6.5 and 61
6. *Bṛhadāraṇyakopaniṣad*-1.5.3
7. *Nyāyasūtra*-1/1/16
8. S.C. Vidyabhushan on *Nyāya-sūtra*-114/2/1/15
9. *Concept of Mind in Indian Philosophy* by Sarasvati Chennakesavan, MLBD, 1980,pp-21
10. *Nyāya-bhāṣya*-1.1.4
11. *Prabhākara School of Pūrvamīmāṁsā*, G.N. Jha,Allahabad 1911
12. *Brahmasūtra Śāṅkara-bhāṣya*- II.4.6
13. *Ibid* - II.4.17

14. *Sāmkhya-pravacana-bhāṣya* 2.19
15. *Sāmkhyakārikā*-24, 27
16. *Sāmkhya-pravacana-bhāṣya*- Vijñānabhikṣu, 2.25
17. Vide *Yoga-dṛṣṭi* -II.19
18. *Studies in Jaina Philosophy*, Nathmal Tatia, P.V. Reserach Institute, Varanasi p-31
19. *Central Conception of Buddhism*, p.58
20. *Ibid.* pp. 96-7
21. *Pramāṇa-mīmāṃsā* by Hemacandra- 1,2, 21-22-23
22. *tad indriyānindriyanimittam - Tattvārtha-sūtra*- 1.14
23. *iṣadinriyamanindriyamiti / yathā anudarā kanyā iti/ kathamīṣdarthaḥ// Sarvārthasiddhi* by Pūjyapāda-1.14
24. *Viśeṣāvaśyaka-bhāṣya*- 3525
25. *Bhagavatī*- 13, 7, 494
26. *Gommaṭasāra (Jivakāṇḍa)*-443
27. *Viśeṣāvaśyaka-bhāṣya*-3523
28. *Ibid*- 506-7
29. The mind according to Jainas, is an instrument of thinking, which a soul makes for itself out of the groups of material atoms fit for the purpose and becomes capable of thinking through its agency. Of course only the developed souls have the capacity to form minds.
30. *Viśeṣāvaśyaka-bhāṣya*-522
31. *Ibid.*-506-07



Jainism in Bengal

Dr. Harihar Singh*

Bengal came into contact with Jainism as early as the 6th century B.C. as the *Ācārāṅgasūtra*, which is taken to be the earliest Jaina canon by the Śvetāmbaras, gives a vivid account of Mahāvīra's itinerary of Lāḍha (Western Bengal). There we are told that when Mahāvīra (24th Tīrthaṅkara) travelled in the pathless country of the Lāḍhas, enduring of course manifold pains caused by grass, clod, fire, flies and gnats, the natives of Lāḍha attacked him, disallowed him from entering their village, made dogs bite and run at him, used abusive language to him, struck him with stick, fist, lance, fruit, cold and potsherd, cut his flesh, tore his hair, covered him with dust and hit to let him fall, but all the times he remained undisturbed and proceeded on the path of *Nirvāṇa* (liberation). Many other mendicants, eating rough food and carrying a strong stick to keep off dogs, were also bitten and torn by the dogs. It was thus very "difficult to travel in Lāḍha."¹ This far-famed country of Lāḍha in old days lay west of the Bhāgīrathī river and included roughly the present day districts of Howrah, Hooghly, Burdwan, Murshidabad and Dinajpur.² From the above narratives of the *Ācārāṅgasūtra* it appears that the people of Bengal were still primitive and outside the pale of Aryan civilization and hence they could not appreciate the mendicant life of Mahāvīra. It is very unfortunate that in a country like India where saints and seers are treated as reverent persons for their asceticism, such an act of ill-treatment was done disregarding all the human values. It was probably the nudity of Mahāvīra which enraged them most. This may be surmised from the fact that the inhabitants of the village did not allow him to enter their village, saying, "Get away from here."

* Deptt. of A.I.H.C. and Archaeology, B.H.U., Varanasi

Dr. R.C. Majumdar³ also suggests that nakedness must have made them repulsive but his saying that it was done because they were of good taste and high culture is hardly justifiable. Do we expect such a maltreatment of ascetics from the cultured people? However, whatever may have been the reason of their annoyance it was not long afterwards that Jainism made its footing there. This would have been possible with the Aryanisation of eastern India since the Jaina *Prajñāpanāsūtra*, an Upāṅga text of the 2nd-1st century B.C., includes Vaṅga (Central and Eastern Bengal) and Lāḍha in the list of Āryan countries.⁴ We have an important piece of information to allude to the spread of Jainism even prior to the 2nd century B.C. This we learn from the *Kalpasūtra* of Bhadrabāhu who was contemporaneous with Candragupta Maurya and flourished in the 4th-3rd century B.C. According to the *Kalpasūtra*, Bhadrabāhu had four disciples. One of these was Godāsa who had the credit of founding a school (Śākhā) of his own called Godāsagaṇa. This Śākhā of Godāsagaṇa was divided into four Śākhās, namely Tāmraliptika, Koṭivarṣīya, Puṇḍravardhanīya and Dāsīkharvaṭika.⁵ The first of these was associated with lower Bengal, the next two belonged to North Bengal and the remainder had its association with West Bengal.⁶ From the geographical distribution of these Śākhās it appears quite certain that Jainism spread in the major parts of Bengal. The prevalence of Jainism in Puṇḍravardhana is also known from *Divyāvadāna*⁷ which says that the Nirgranthas in Puṇḍravardhana had drawn pictures representing Buddha as falling at the feet of Nirgrantha and when this matter was reported to Aśoka he ordered the massacre of the Nirgranthas in Pāṭaliputra, the capital of the Mauryan rulers. But not much credence is given to this statement of the Buddhist text since the Śramaṇas (Nirgranthas) received an equal treatment with their co-religionists.⁸ Probably, this is a sectarian stunt to defame the Nirgranthas.

Jainism continued to flourish in Bengal from the 1st century B.C. to the 2nd century A.D. This is evidently known from numerous

inscriptions containing the names of a large number of Jaina Śākhās mentioned in the *Kalpasūtra*.⁹

During the age of the Imperial Guptas (*circa* 4th- 6th centuries A.D.) we have a good number of inscriptions and Jina images from other parts of North India,¹⁰ showing thus the flourishing condition of Jainism there, but except for a solitary testimony of Paharpur copper-plate of the Gupta year 159 (479 A.D.) which makes mention of a Jaina monastery they are conspicuous by their absence in Bengal. Probably, the rigorous code of conducts as prescribed both for recluses and laity in Jaina religion distract the natives of Bengal to embrace other religions of the period. The above copper-plate inscription had been recovered during archaeological excavations carried out at Paharpur, Rajshahi district, Bangladesh. It records an endowment of land by a Brāhmaṇa couple for the “maintenance of worship with sandal, incense, flowers, lamps etc. of the divine *arhats* at the *vihāra* of Vaṭa-Gohālī which was presided over by the disciples and the disciples of disciples of the Nirgrantha preceptor (Śramaṇa-ācārya) Guhanandin, belonging to the Pañcastūpa section (*nikāya*) of Kāśī (Varanasi).”¹¹ Vīrasena and Jinasena, who wrote the Dhavalā commentary on the *Ṣaṭkhaṇḍāgama* which is taken to be the main canonical text by the Digambaras, claims to have belonged to this Nikāya. The Jaina Vihāra at Vaṭa-Gohālī was so sanctified that it drew attention of other sections of the society as well. The donation of a Brāhmaṇa couple for the worship of Jinas is indeed significant as it shows the religious tolerance of the people of the period. .

The prevalence of Jainism in Bengal in the 7th century A.D. is known from the travel account of Hiuen Tsang who visited Puṇḍravardhana and Samataṭa (South Bangladesh) in the second quarter of the 7th century A.D. Referring to the sectaries of different Śākhās of these regions he says that “the naked Nirgranthas are the most numerous.”¹² This apparently shows the high concentration of Nirgranthas (Jaina monks) in Bengal. This information of Hiuen

Tsang about the Nirgranthas is of immense importance since he was a Buddhist monk.

We know little about the state of Jainism in Bengal from about the 8th century A.D. to the close of the 12th century A.D. as no Pāla and Sena inscriptions make any reference to the Jainas and Jainism. This definitely shows the waning condition of Jainism in Bengal at least in the 8th-10th centuries A.D. The reason of its declination seems to be this that the Pāla rulers were staunch supporters of Buddhism and the Senas that of Hinduism. But its position seems to have considerably improved during the 11th-12th century A.D. This is evidently known from a large number of Jaina temples located at Harmashra, Bahulara, Kendua, Barkola, Pareshnath, Ambikanagar, Chitgiri, Chiyada, Deulbhira, Gaukul, Dharapat etc. in Bankura district, Pakbira, Budhapur, Suisa, Palma, Balarampur, Gholamara, Chara, Sanka, Para, Senera, Jhalda, Deoli etc. in Purulia district, Deuliya, Puchra etc. in Burdwan district, and Balihati in Midnapore district.¹³ Similarly, the procurement of many Jaina images from different parts of Bengal also shows the bright position of Jainism in Bengal.¹⁴ This is when many Jaina temples were badly damaged and converted into Brahmanical shrines. The declination of Jainism in the Pāla period and its rise in the Sena period is a point to be thoroughly investigated. To me it appears that Jainism succeeded in occupying the seat of Buddhism when the latter lost its hold in Bengal after the Pālas. This indeed gave much encouragement to the Jainas to raise their temples on the places listed above and manufacture Jaina images in stone and metal to install at places of their choice.

It is not known for certain what happened to Jainism after the 12th century A.D. as we do not have archaeological and literary data to show the presence of Jainism in Bengal at this time. Probably, it was merged in the Avadhūta sect of Bengal which had been well established in Bengal towards the end of the Pāla period.¹⁵ This

position of Jainism remained almost unchanged until the Jaina emigrants from western India, particularly Mewar and Bikaner, came here to do business in the 17th-18th century A.D. and built Jaina temples, chiefly in white marble, at Berhampur, Azimaganj and Kolkata. This is reflected not only from the temple style but also from the building material itself. While the temples of the 10th-11th century A.D. are built in the Orissan style, those of the medieval (Muslim) period are executed in the western Indian style. The building materials employed in the Jaina temples of the 10th-11th century A.D. are sandstone and burnt bricks, whereas the material used in the medieval Jaina temples is white marble which had been transported to Bengal from Rajasthan since it is not available in Bengal.

References:

1. *Jaina Sūtras, The Sacred Books of the East*, Vol. XXII, Pt. I, reprint, Varanasi, 1964, pp. 84-85.
2. H.C. Raychaudhuri, in *The History of Bengal*, Vol. I, Decca, 1943, pp. 20-22.
3. R.C. Majumdar, "Jainism in Ancient Bengal", *Shri Mahavira Jaina Vidyalaya Golden Jubilee Volume*, Pt. I, Bombay, 1968, p. 133.
4. *Prajñāpanāsūtra*, Pt. I, Edited by Mishrimalji, Beawar, 1983, 102.
5. *Jaina Sūtras, The Sacred Books of the East*, Vol. XXII, pp. 288-89.
6. P.C. Bagchi, in *The History of Bengal*, Vol. I, p. 410.
7. *Divyāvadāna*, Edited by E.B. Cowell and R.A. Neil, Cambridge, 1886, p. 427.
8. R.K. Mookerji, in *The Age of Imperial Unity*, Bombay, 1968, p. 82.
9. P.C. Bagchi, *op. cit.*, p. 410.

10. C.J. Shah, *Jainism in North India*, reprint, Delhi, 1989, pp. 204-217.
11. K.N. Dikshit, "Paharpur Copper-Plate Grant of the (Gupta) year 159", *Epigraphia Indica*, Vol. XX (1929-30), pp. 59-64.
12. Beal, *Buddhist Records of the Western World*, Vol. II, London, 1906, p. 195.
13. D.R. Das, "Jaina Temples of West Bengal", *Nirgrantha*, Vol. III, Ahmedabad, pp. 107-124; P. Banerjee, in *Jaina Art and Architecture*, Vol. I, Ed. by A. Ghosh, New Delhi, 1974, pp. 152-158.
14. J.N. Banerjee, in *The History of Bengal*, Vol. I, p. 465.
15. P.C. Bagchi, *op. cit.*, p. 411.



पार्श्वनाथ विद्यापीठ के प्राङ्गण में

खरतरगच्छ की चार साध्वियों का अध्ययनार्थ पार्श्वनाथ विद्यापीठ में आगमन

पार्श्वनाथ विद्यापीठ एवं वाराणसी जैन समाज के लिए यह हर्ष की बात है कि खरतरगच्छ-ज्योति परमपूज्या साध्वीवर्या श्रीचन्द्रप्रभाश्रीजी म०सा० की चार शिष्याएँ-साध्वी संयमपूर्णाश्री जी, साध्वी रत्ननिधिश्री जी, साध्वी पुण्यनिधिश्री जी और साध्वी श्रद्धानिधिश्री जी म० सा० अध्ययनार्थ पार्श्वनाथ विद्यापीठ, वाराणसी पधार रही हैं। आप शिखरजी से चल कर फरवरी माह के प्रथम सप्ताह तक विद्यापीठ में पधारेंगी। ज्ञातव्य है कि दो साध्वीवृंद विश्व ज्योतिष विश्वविद्यालय से “जैन मन्दिर में वास्तुविज्ञान एवं शिल्प विज्ञान की अवधारणा” तथा “ज्योतिषशास्त्र में मुहूर्त विज्ञान की वैज्ञानिक अवधारणा” विषय पर पी-एच०डी० कर रही हैं।

पार्श्वनाथ विद्यापीठ में मासिक एवं त्रैमासिक संगोष्ठी प्रारम्भ

जैन धर्म, दर्शन, कला, इतिहास, संस्कृति एवं पुरातत्त्व आदि विषयों में कार्यरत उदीयमान शोध-छात्रों एवं जैनविद्या में रुचि रखने वाले सुधीजनों हेतु पार्श्वनाथ विद्यापीठ ने एक मासिक एवं त्रैमासिक संगोष्ठी सिरीज प्रारम्भ किया है। इस संगोष्ठी के माध्यम से शोध-छात्र अपनी शोध-पत्र लेखन कला/वाचन या वाक्कला में निपुणता ला सकेंगे। शोध-छात्रों द्वारा पठित स्तरीय शोध आलेखों को श्रमण (त्रैमासिक) शोध-पत्रिका में प्रकाशित किया जायेगा। शोध-पत्र का विषय चयन करने हेतु शोध-छात्र स्वतंत्र हैं किन्तु विषय जैनविद्या, बौद्ध धर्म-दर्शन या तुलनात्मक धर्म-दर्शन से सम्बन्धित ही होने चाहिये। यह संगोष्ठी प्रत्येक माह के प्रथम शनिवार को प्रातः १०.०० बजे से होनी निश्चित है।

इस संगोष्ठी का प्रारम्भ दिनांक ८-१२-२००७ को हुआ। इस क्रम में प्रथम शोध आलेख संस्थान के कार्यकारी निदेशक डॉ० श्रीप्रकाश पाण्डेय द्वारा ‘जैन साहित्य और श्रीमद्भगवद्गीता’ विषय पर प्रस्तुत किया गया। जिसमें डॉ० सुधा जैन, डॉ० विजय कुमार, श्री ओमप्रकाश सिंह, डॉ० राघवेन्द्र पाण्डेय, डॉ० अशोक कुमार सिन्हा, श्री संजय कुमार सिंह, डॉ० संजय कुमार पाण्डेय, डॉ० भूपेन्द्र शुक्ल, डॉ० शारदा सिंह, सुश्री प्रतिभा मिश्रा आदि ने संगोष्ठी में भाग लिया।

इस क्रम में जनवरी माह में डॉ० विजय कुमार, फरवरी माह में डॉ० सुधा जैन तथा मार्च माह में श्री ओमप्रकाश सिंह द्वारा आलेख प्रस्तुत किये जायेंगे।

त्रैमासिक संगोष्ठी में धर्म, दर्शन, कला, इतिहास, संस्कृति एवं पुरातत्त्व आदि से सम्बन्धित स्थानीय विश्वविद्यालयों में कार्यरत एवं अवकाश-प्राप्त विद्वानों को विशेष व्याख्यान हेतु आमंत्रित किया जायेगा।

**International Conference on
'Issues Causing Threat to Our Environment'
(March 27-29, 2008)**

Organisers:

**Parshwanath Vidyapeeth, Varanasi
Dept. of Veda, S.V.D.V., B.H.U.
&
Suruchi Kala Samiti**

VENUE:

Conference Hall, S.V.D.V. Banaras Hindu University, Varanasi

Natural and man-made environmental resources - fresh water, clean air, soil, mineral resources, forests, grasslands, marine resources, and agro-ecosystems - provide sustenance and a foundation for social and economic development. But with an ever-increasing pace and the human population, of the so-called civilized nations, has put material things above the beauty, magnificence and survival of the Earth. As a result many of the environmental threats have emerged as : Air Pollution, Global Warming, Hazardous Waste, Ozone Depletion and UV-B rays, Water Pollution, Air Pollution, over population. Noise Pollution and Rain Forest Destruction.

To ponder over these issues and create awareness among the masses about environmental pollution, over exploitation of natural resources, to promote facts about environment conservation and to ensure the optimum use of natural resources like water, fuel etc. a three-day's International Seminar will be organized on 27-29 March 2008.

१०६ : श्रमण, वर्ष ५८, अंक ४/अक्टूबर-दिसम्बर २००७

Topics to be discussed prominently in the Seminar:

1. Pollution: sources, problem and state of general awareness about Pollution, 2. Pollution and Globalization, 3. Global Warming: problems and perspective, 4. Forest depletion 5. Ozone layer depletion 6. Over Population: problems and perspective. 7. Environmental Management in Ancient ages, 8. Indian Religions, Literature & Environment, 9. Human Health & Environment, 10. Bio-diversity conservation 11. Socio-economic dimension of Environment, 12. Sports & Environment 13. Environment & Law

Guidelines for submission of papers:

Scholars are invited to submit their papers in the following format:

- For English- Title of the paper : Times New Roman 14 point Bold
- An abstract (200 words) : Times New Roman 12 point
- Bibliography or references : Times New Roman 10 point
- For Hindi: Title of the paper : Kruti Dev 010 16 point Black
- An abstract (200 words) : Kruti Dev 010 14 point
- Bibliography or references : Kruti Dev 010 12 point

Send a soft and Hard copy of your abstract.

Language : Will be Hindi and English only

Registration Fees:

For India (scholars)	: Rs. 500.00
For Students/Research Scholars	: Rs. 400.00
Asian Countries	: \$ 50
Other Countries	: \$ 100

Cheques/DDs: All payments should be made in Cheques or DD (Please add Rs. 30.00 for outstation) in favour of: 'International Conference on "Issues causing threats to our Environment"' payable at Varanasi.

Last Date for receiving the abstract of papers: February 20, 2008

Registration as a delegate : March, 10, 2008

Spot registration will be also available. The fee will be Rs. 600.00 only.

Major attractions: Painting Exhibition on Environment, Cultural Programs, Kashi Darshan and holy Ganga Snan will be arranged on payment.

Contact persons:

Mr. Anjani Kumar Mishra, Gen. Secretary, Suruchi Kala Samiti
B-23/45 P-12 Sharda Nagar Colony, Khojawa, Varanasi 221010,
(UP) India, Ph. 09450016201

Dr. S. P. Pandey, Director In-charge, Parshwanath Vidyapeeth,
I.T.I. Road, Karaundi, Varanasi-221005, (UP) India,
Ph. 09936179817

Dr. Upendra Kumar Tripathi, Dept. of Veda, S.V.D.V., B.H.U,
Varanasi-221005, (UP) India, Ph.: 09452563991

The scholars from outside India may send their Registration Fee to:

Dr. Sanjay Rai,
Department of Indian Language,
Faculty of Arts
Banaras Hindu University,
Varanasi 221005
Mobile NO. 0-9450532989
Email: sanbant@yahoo.com,



जैन जगत्

राज्यपाल द्वारा - 'करुणा रत्न' पुरस्कार से श्रीमती मेनका गांधी, श्री डी०आर० मेहता, श्री दुलीचन्द जैन एवं डॉ० साधना राव सम्मानित

चेन्नई - २० दिसम्बर २००७, 'करुणा रत्न' पुरस्कार समारोह दिनांक ३० दिसम्बर २००७ रविवार की सायं ५.०० बजे से तमिलनाडु के राजभवन में प्रारंभ हुआ। करुणा प्रार्थना का सस्वर पाठ श्री सज्जन सुराणा ने किया। तमिलनाडु के माननीय राज्यपाल श्रीयुत् सुरजीतसिंहजी बरनाला समारोह के मुख्य अतिथि थे। श्रीमती मेनका गांधी, लोकसभा सदस्य एवं पूर्व केन्द्रीय मंत्री, भारत सरकार, संस्थापक-पीपुल फॉर एनिमल्स, नई दिल्ली; श्री डी०आर० मेहता, संस्थापक चेयरमेन, भगवान् महावीर विकलांग समायता समिति, जयपुर; श्री दुलीचन्द जैन, राष्ट्रीय अध्यक्ष-करुणा अन्तर्राष्ट्रीय, चेन्नई तथा डॉ० साधनाराव, सचिव - इण्डियन ऑफ एनिमल वेलफेयर, चेन्नई को 'करुणा रत्न' अवार्ड से राज्यपाल ने सम्मानित किया। 'करुणा रत्न' पुरस्कार दया, करुणा, अहिंसा, सेवा तथा शाकाहार के क्षेत्र में उल्लेखनीय कार्य करने वाले महानुभावों को सुराणा एण्ड सुराणा इंटरनेशनल एटोर्नीज चेरिटेबल, चेन्नई द्वारा प्रदान किया गया। पुरस्कार के अन्तर्गत एक लाख रुपये की नगद राशि, प्रशस्ति पत्र एवं स्मृति चिह्न प्रदान किये गये। श्री कैलाशमल दूगड़ ने पुरस्कार प्राप्तकर्ताओं का संक्षिप्त जीवन रेखांकन प्रस्तुत किया।



श्री दुलीचन्द जैन तमिलनाडु राज्यपाल से 'करुणा रत्न' अवार्ड ग्रहण करते हुए।

भगवान महावीर जन्मभूमि कुण्डपुर, वैशाली में 'वर्धमान भवन' का शिलान्यास

भगवान महावीर स्वामी की जन्मभूमि वासोकुण्ड, विदेह कुण्डपुर, वैशाली में २६ अगस्त २००७ को आयोजित एक भव्य समारोह में 'राजकुमार वर्धमान भवन' की आधारशिला रखी गई। समारोह के मुख्य अतिथि वैशाली लोकसभा सदस्य एवं केन्द्रीय ग्रामीण विकास मंत्री डॉ० रघुवंश प्रसाद सिंह थे। उन्होंने समारोह में उपस्थित देश के विभिन्न क्षेत्रों से आए हुए जैन प्रतिनिधियों का भगवान महावीर की पावनभूमि पर स्वागत करते हुए कहा कि - मैं इस धरती की वंदना करता हूँ। यह भूमि अहिल्य कहलाती है, यानी यहाँ सैकड़ों वर्षों से हल नहीं चलाया जाता। साहू शान्तिप्रसाद जी ने सन् १९५५ में 'अहिंसा, जैनशास्त्र एवं प्राकृत शोध संस्थान' की स्थापना करके जैनविद्या को एक नई दिशा दी। सन् १९५६ में प्रथम राष्ट्रपति डॉ० राजेन्द्र प्रसाद ने भव्य स्मारक का शिलान्यास किया। जैन धर्म की प्रासंगिकता पर प्रकाश डालते हुए उन्होंने कहा कि आज यदि जैनधर्म के त्रिरत्न एवं पंचमहाव्रत सिद्धान्त को जनमानस अपना ले तो सारी दुनिया से आतंक समाप्त हो जायेगा। संसद के द्वारा भगवान महावीर का संदेश जनमानस तक फैलाने का उन्होंने आश्वासन दिया। उन्होंने वैशाली स्थित महावीर हाईस्कूल का गेट, गेस्ट हाऊस, अस्पताल, कॉलेज, रेलवे स्टेशन आदि सरकार द्वारा बनवाने की घोषणा की।

'राजकुमार वर्धमान भवन' की आधारशिला श्री आर०के० जैन (वीरा बिल्डर्स) दिल्ली ने रखी। पं० राजेन्द्र उपाध्ये ने पूजन संपन्न कराया। भगवान महावीर स्मारक समिति के अध्यक्ष श्री नरेश कुमार सेठी ने बताया कि यहाँ आचार्यश्री विद्यानन्द जी, आचार्यश्री विद्यासागर जी, आचार्यश्री वर्धमानसागर जी एवं सन्तों के आशीर्वाद से सभी संस्थाओं- तीर्थक्षेत्र समिति, महासमिति, परिषद् आदि के सहयोग से पूरे समाज को जोड़कर भव्य स्मारक बनाया जाएगा। साथ ही उन्होंने श्री स्वदेश भूषण जैन (पंजाबकेसरी), श्री सतीशचन्द्र जैन (SCJ), श्री अनिल जैन (नेपाल), श्री स्वराज जैन, श्री सत्येन्द्र जैन आदि के द्वारा समारोह को सफल बनाने में दिये गये सहयोग की सराहना की। महासभाध्यक्ष निर्मल कुमार सेठी ने आभार व्यक्त किया। संचालन डॉ० वीरसागर जैन ने किया। ये सभी कार्य 'प्राकृत जैनशास्त्र और अहिंसा शोध संस्थान' के निदेशक डॉ० ऋषभचन्द्र जैन, के निर्देशन में सम्पन्न हुए।

११० : श्रमण, वर्ष ५८, अंक ४/अक्टूबर-दिसम्बर २००७

10th Jaina Studies Conference at SOAS on 'Jaina Art & Architecture' on 6-7 March 2008

School of Oriental and African Studies, (SOAS), Russell Square, London WC1H 0XG SOAS is organizing a Annual Jain Lecture on 'New Approach to the Study of Jaina Art and Architecture' at its Brunei Gallery Lecture Theatre on 6-7 March 2008. The Keynote will be addressed by Prof. Maruti Nandan Prasad Tiwari, Professor at Department of History of Art, Banaras Hindu University. The conference is co-organized and co-sponsored by the Centre of Jaina Studies at SOAS, the Centre for Theology and Religious Studies at the University of Lund (www.sasnet.lu.se/indrellund.html) and the Victoria and Albert Museum in London (www.vam.ac.uk). The conference is free and open to everyone. The conference will welcome sponsorship, which will be recognized in the conference programme.

*Please contact Dr Peter Flugel for more information, on
pf8@soas.ac.uk*

International School for Jaina Studies (ISSJS) Collaboration to Harvard University, USA

ISSJ has achieved a major mile stone this year by getting collaboration with Harvard University of USA University of Ottawa Canada is already partner of ISSJS in Canada. ISSJS started with just 7 scholars in 2005 and due to its dedication to the spread of Jain studies the number of students were reached in 2007 as 33 and now it is expected to cross the number of 50 in 2008. Scholars coming from USA, Canada, Russia, Singapore, Thailand and Cambodia (more than 85% from North America) and represented about 20 university from six countries.

ISSJS Progress Report 2007

1. Five alumni of ISSJS have already started offering regular classes in Jainism at their school/university. Last year, nearly 500 students were exposed to Jainism and its philosophy at these colleges.

2. Four college level textbooks or chapters on Jainism by a few scholars are in preparation already.

3. Three stand-alone sessions with 12 papers on Jainism will be presented at the prestigious American Academy of Religions Conference in San Diego in November 2007.

4. University of Ottawa, Ottawa, Canada, University of Bombay, Rajasthan University Manglayatan University (in Aligarh, UP) and Lal Bhadrur Sanskrit Vidyapith in New Delhi are providing Academic support to ISSJS program. Harvard University of USA and University of Ottawa, in Canada have adopted our program and are offering it to their and other prestigious universities of USA and Canada respectively.

5. Prof. Cromwell Crawford, chairman, academic council USA of the school was conferred Hon. D. Litt. Jain Vishva Bharati, Ladnun on November 4th at their fifth convocation in Udaipur. Former president Dr. A.P.J. Abdul Kalam addressed the convocation. Prof. Crawford also delivered lectures at Lal Bahadur Shastri Sanskrit Vidyapith, New Delhi and University of Rajasthan, Jaipur. While in India, he visited facilities of ISSJS in Delhi, Jaipur and other places.

6. In August 2007, some of the organizers, visited Harvard university in Cambridge, Eastern Connecticut State University in Willimantic CT, University of Ottawa, Ottawa, Canada and India's High Commissioner to Canada in Ottawa. Every where, they were received by the top faculty, deans and presidents. Eastern Connecticut State University is offering a full cour on Jainism and non-violence beginning from 2008 semester.

7. Two alumni of ISSJS programs are already in process of putting together extensive proposals for deeper and extensive research in various philosophical aspects of Jainism such as prevalent practices of Ahimsā within the Jain community in India and other places. They are looking at securing sizeable funding from many Charitable Foundations in North America to conduct these research projects.

Plan for 2008 and beyond

➤ In 2008, we are expending the course offering in the ISSJS program. We plan to offer a two tier program. One will be a one month long program for undergraduate students (this is new).

The other in the regular advanced two months long program (same as in the past three years). This will be for graduate (M.A. Ph.D.) students and faculty. Both the programs will start on June 1st in New Delhi and are for students and faculty who are affiliated with universities. Both the programs will be independent, stand-alone, will run parallel and simultaneous. The rush for enrolling is quite high and we expect to limit the total enrollment to both programs to a maximum of 35-40 (due to facilities constraints)

- ISSJS will welcome and host a group of 70 Jains from USA or two weeks of an extensive pilgrimage cum study of Jainism. The program will start January 27th 2008. ISSJS will provide complete board, lodge, transport facilities as well as deliver lectures on Jainism at important Jain pilgrims places in Madhya Pradesh, Utter Pradesh, Rajasthan and Delhi.
- ISSJS is compiling the second volume of study notes for delivery to the class of ISSJS 2008. Last year the first volume with fifty papers on different topics comprising ISSJS syllabus were given to scholars and were highly appreciated for heir contents and presentation.
- ISSJS intend to hold two international seminars on specific topics of academic interest on Jainism.



साहित्य सत्कार

पुस्तक समीक्षा

पुस्तक- पंच-प्रतिक्रमण सूत्र, लेखिका-डॉ० साध्वी सुरेखाश्री, प्रकाशक-विचक्षण स्मृति प्रकाशन, संस्करण-प्रथम २००६, ई० सन्, पृ०-१८+२२०=२३८, आकार-डिमाई, मूल्य-१०.०० रु०।

पंच प्रतिक्रमण सूत्र एक ऐसी कृति है जिसको मूल के साथ-साथ हिन्दी व अँग्रेजी भाषा में प्रस्तुत किया गया है। वर्तमान युग में आंग्ल भाषा के बढ़ते क्षेत्र को देखते हुए इसका प्रणयन अत्यन्त उपयोगी है। सुखी जीवन के लिए भौतिक पदार्थों की नहीं अपितु आत्मिक सुख की जरूरत है। आत्मिक सुख तभी प्राप्त हो सकता है जब व्यक्ति की आत्मा शुद्ध हो। आत्मशुद्धि के लिए ही प्रस्तुत कृति में छः आवश्यक क्रियाओं का वर्णन किया गया है। आवश्यक क्रिया का अर्थ ही है- अवश्य करने योग्य क्रिया। इन क्रियाओं को सभी को प्रतिदिन करना चाहिए। छः आवश्यक क्रियाएँ हैं- सामायिक, चतुर्विंशतिस्तव, वंदन, प्रतिक्रमण, कायोत्सर्ग और प्रत्याख्यान। इन छः आवश्यकों की साधना से ही व्यक्ति अपने कर्मों का क्षय कर पाता है। कर्मों का क्षय होने पर ही आत्मस्वरूप की प्राप्ति हो सकती है। कृति के प्रारम्भ में वर्णमाला लिप्यंतरण (Transliteration of Alphabet) चार्ट दिया है ताकि पाठकों को अध्ययन में सुविधा हो। पुस्तक के प्रारम्भ में प्रतिक्रमण की मुद्राओं का चित्र देकर लेखिका ने पुस्तक को और अधिक उपयोगी बना दिया है। यह पुस्तक हिन्दी भाषी पाठकों के साथ-साथ अँग्रेजी भाषी पाठकों के लिए ज्यादा उपयोगी सिद्ध होगी, क्योंकि आज अँग्रेजी भाषा का वर्चस्व है। सुन्दर अक्षर-सज्जा के साथ प्रस्तुत कृति प्रत्येक वर्ग के लिए पठनीय एवं संग्रहणीय है।

डॉ० सुधा जैन
वरिष्ठ प्राध्यापक
पार्श्वनाथ विद्यापीठ

पुस्तक- ध्यान पथ, लेखक- आचार्य शिवमुनि, प्रकाशक- मेहता पब्लिशर्स, दिल्ली- २८ संस्करण- तृतीय, पृष्ठ सं०- १७६, मूल्य- ९५ रुपये।

प्रस्तुत ग्रन्थ को आचार्य शिवमुनि जी, जो जैन परम्परा के समुज्ज्वल नक्षत्र हैं, की सर्जन-यात्रा ने अपनी अमूर्त अनुभूतियों को विचार के माध्यम से मनोज्ञ एवं

विचाररमणीय मूर्त रूप दिया है। उनके मन में अनेक संवेदनाओं का स्फुरण तथापि मन का अन्तश्चेतना से सम्पर्क और अन्त में संवेदनाओं का उपलब्ध संस्कारों से संश्लिष्टीकरण के पश्चात् 'ध्यान' नामक इस ग्रन्थ की सर्जना हुई है। अनुभूति के समन्वित रूप ने इसे आमजन के लिए श्रेयष्कर एवं प्रेरणादायी बना दिया है।

जैन धर्म जहाँ एक ओर व्यापक आदर्श-युक्त वैज्ञानिक जीवन-पद्धति प्रस्तुत करता है, वहीं मानव की आचार-शुद्धि एवं साधना की पृष्ठभूमि में चरम उन्नति का आश्वासन भी देता है। वस्तुतः 'ध्यान पथ' मानव को उसी चरम उन्नति की ओर अग्रसर करता है।

प्रस्तुत ग्रन्थ अपने कलेवर में अप्रतिम है। यह जीवन तथा जीवन-दृष्टि की एकाकारता के लिए प्रयत्नशील है। ग्रन्थ का प्रस्तुतीकरण जीवनशैली की अपूर्णता को पूर्णता प्रदान के लिए व्यग्र प्रतीत होता है। प्रणेता का प्रयत्न है कि आत्मशुद्धि के माध्यम से ध्यान-मार्ग में प्रविष्ट होकर उसके क्रियात्मक स्वरूप तथा उपलब्धि को आत्मशुद्धि की साधना का आगमिक आधार बनाया जाय, तब धर्म का शुद्ध स्वरूप समक्ष होगा तथा सदगुरु की पहचान होगी। शरणभाव को अंगीकार करके ही ओंकार के ध्वनि योग का साक्षात्कार हो सकता है। सामायिक और मौन द्वारा अपनी संभाव्य शक्तियों की संभावनाओं का आकलन कर साधक को अपने शुद्ध स्वरूप का ज्ञान प्राप्त करके वास्तविक बल द्वारा संयम का मनन कर आहार पर विजय प्राप्त करने का प्रयत्न करना चाहिए तथा अणुव्रत एवं महाव्रत का पालन करना चाहिए, तभी 'स्वयं' की अनुभूति होगी।

ग्रन्थ का संघटनात्मक कौशल प्रशंसनीय है। विषय व्यष्टि रूप में विविध है, उनके परिदृश्य एवं आयाम में विविधता है, किन्तु समष्टि रूप में उनका संकलन आनुभविक-प्रामाणिकता को एकाकार कर देता है। ध्यान-मार्ग के विरोधाभासों का सरल प्रस्तुतीकरण का प्रयास स्तुत्य है। ग्रन्थ में विद्वान् लेखक ने बहुत ही निपुणता के साथ यह दिखाने का प्रयास किया है कि 'ध्यान' की पूर्व-पीठिका के रूप में व्रत, आहार, मौन, शरणभाव, सामाजिक संगठन का सूत्र, वास्तविक बल तथा संयम-ध्यान इस युग के लिए सर्वथा सार्थक है। सामाजिक विसंगतियाँ, मनोविकार, मानसिक असंतुलन का त्रिगुट ध्यान पथ का स्वाभाविक अंत है और ध्यान का मार्ग ही सर्वोत्तम मार्ग है। चित्रों के माध्यम से योगासन को समझाने का प्रयास ग्रन्थ की मौलिकता को दर्शाता है तथा विभिन्न ध्यान-शिविर द्वारा ध्यानार्थियों के विचारों को संकलित कर आम सुधी पाठकों के लिए प्रेरणा का एक मंच प्रदान करता है।

बाजारीकरण के इस दौर में जहाँ ध्यान और योग को बाजार की एक बिकाऊ वस्तु बनाकर पेश किया जा रहा है, वहीं आचार्य शिवमुनि जी इस ग्रन्थ में लघुता में

विराटता का रूपायन करते प्रतीत होते हैं। उन्होंने अपनी अनुभूति की उष्मा से सर्जित 'ध्यान पथ' पुस्तक को आम पाठकों के लिए प्रस्तुत किया है। यह पुस्तक स्वाभाविक सर्जनात्मकता और व्यावहारिक उपादेयता दोनों को सिद्ध करती है।

डॉ० जयन्त उपाध्याय

दर्शन एवं धर्म विभाग

का०हि०वि०वि०, वाराणसी

पुस्तक- अष्टपाहुड : एक अध्ययन, लेखक- डॉ० राजेन्द्र कुमार बंसल, प्रका०- समन्वय वाणी जिनागम शोध संस्थान, १२९ जादोन नगर 'बी', स्टेशन रोड, दुर्गापुरा, जयपुर-१८, पृ०- ८८, मूल्य- रु० १०.००।

आचार्य कुन्दकुन्द विरचित अष्टपाहुड जैन धर्म-दर्शन की अनुपम कृति है। रचनाकार ने इसमें एक ओर जहाँ दर्शन की गूढ़ता को सुलझाने का प्रयास किया है वहीं दूसरी ओर धर्म के मर्म को भी स्पष्ट किया है। आचार्य कुन्दकुन्द ने अपनी बौद्धिक मेधा से धर्म और दर्शन दोनों में संतुलन कायम करने का समुचित प्रयास किया है जो उनके वैशिष्ट्य का परिचायक है। जैन धर्म की सहजता और सहभाविता का प्रभाव आचार्य श्री की लेखन विधा पर स्पष्ट गोचर होता है।

समीक्ष्य पुस्तक 'अष्टपाहुड : एक अध्ययन' जीवन तथा जीवन-दृष्टि की अनेकानेक संभावनाओं तथा जीने की प्राविधिक सामंजस्य की स्थिति को स्पष्ट करता है। मोक्ष जीवन की एक प्रायिकता है - से संयोजित होकर आम-जन की सारी संभावनाओं को प्रकाशित करती यह पुस्तक अपनी उपादेयता को सार्थक करती है। यह बताती है कि मोक्ष-प्राप्ति हेतु कौन से साधन आवश्यक या अनिवार्य हैं। यह ग्रन्थ आत्मध्यान की वह सीढ़ी है जिसके माध्यम से भव-भ्रमण के अवरोध को निःसारित किया जा सकता है। चित्त भ्रमण पर विजय प्राप्त कर ही मुक्तिमार्ग का चयन संभव है।

भारतीय संस्कृति को पोषित करने की परम्परा में मुक्तिमार्ग की संवाहिका-यह पुस्तक सुधीजनों को मनोविकास के माध्यम से जीवनोत्कर्ष के लिए प्रेरित करती है। अतः यह पठनीय व संग्रहणीय है।

संजय कुमार सिंह

दर्शन एवं धर्म विभाग

का०हि०वि०वि०, वाराणसी

साभार

१. उपदेश सप्तति, संपा०-मुनिश्री पुण्यकीर्ति वि. म. सा., प्रका०-सन्मार्ग प्रकाशन, श्वे. मू. तप. जैन आराधना भवन, पाछीयाणी पोल, रीलिक रोड, अहमदाबाद-३८०००१, मूल्य- रु० ११५.००

२. मुक्तिनो मारग मीठो, संकलनकर्ता आचार्य विजय पूर्णचन्द्र सूरीश्वरजी, प्रका०-पंच प्रस्थान पुण्य स्मृति प्रकाशन, सुमंगलम् कार्यालय, १०-३२९८/अ, काजीनुं मैदान, गोपीपुरा, सुरत, मूल्य-रु० ४०.००।

३. श्रीनेमिदूतम्, संपा०-मुनि श्री पुण्यकीर्तिविजय वि. म. सा., प्रका०-सन्मार्ग प्रकाशन, श्वे. मू. तप. जैन आराधना भवन, पाछीयाणी पोल, रीलिक रोड, अहमदाबाद-३८०००१, मूल्य- रु० ५०.००।

४. मानतुङ्ग-मानवती चरित्रम्, सम्पा०- आ. वि. योगतिलकसूरि जी, प्रका०- संयम सुवास, २, सेठ जमनादास जीवतलाल, जूनागंज बाजार, मु.पो. भाभर, जिला- बनासकाठा-३८५३२०, मूल्य- स्वाध्याय।

५. द्रव्य प्रतिक्रमणने भावप्रतिक्रमण केवी रीते बनावशो, सम्पा०-मुनिराज भावेशरत्न विजयजी म.सा., प्रका०- शेरी जैन संघ, सुरत, मूल्य-स्वाध्याय।

६. श्री तीर्थकर पंचकल्याणक विधान, लेखक- राजमल पवैया, प्रका०-तारादेवी पवैया ग्रन्थमाला, ४४, इब्राहीमपुरा, भोपाल-४६२००१, न्यौछावर-रु० ८।

७. चौबीस दंडक, लेखक- राजमल पवैया, प्रका०- तारादेवी पवैया ग्रन्थमाला, ४४, इब्राहीमपुरा, भोपाल-४६२००१।

८. लघु द्रव्य संग्रह विधान, लेखक- राजमल पवैया, प्रका०- तारादेवी पवैया ग्रन्थमाला, ४४, इब्राहीमपुरा, भोपाल-४६२००१, न्यौछावर-रु० ३।

९. श्री नेमिनाथ पंचकल्याणक विधान, लेखक- राजमल पवैया, प्रका०-तारादेवी पवैया ग्रन्थमाला, ४४, इब्राहीमपुरा, भोपाल-४६२००१, मूल्य-रु० ७।

१०. श्री रत्नत्रय विधान, लेखक- राजमल पवैया, प्रका०- पूज्यश्री कानजी स्वामी स्मारक ट्रस्ट, कहानगर, लामरोड, देवलाली (महा०), मूल्य- रु० ७।

११. नित्यमह पूजन दीपिका, लेखक- राजमल पवैया, प्रका०- तारादेवी पवैया ग्रन्थमाला, ४४, इब्राहीमपुरा, भोपाल-४६२००१।

श्रीमद्धनेश्वरसूरिचरितं
सुरसुंदरीचरिअं
(पंचम परिच्छेद)

पू० गणिवर्य श्री विश्रुतयथाविजयजीकृत
संस्कृत छाया, गुजराती और हिन्दी
अनुवाद सहित
परामर्शदात्री
प०पू० साध्वीवर्या रत्नचूलाजी म०सा०

पार्श्वनाथ विद्यापीठ, वाराणसी

२००७

Surasundaicarium

Introduction to 5th Pariccheda

From last issue onward.....

We have seen in IVth pariccheda that Citravega, as he could not get Kanakamālā in the garden decides to commit suicide. He hangs himself on the tree but some one brings his body down without any harm. When Citravega returns to his consciousness he witnesses a new person serving him who was quite unfamiliar to him and who resembles with the Kāmadeva in figure. Now Citravega feels better as there was no pain in his body.

The person asked Citravega "Why are you committing suicide"? It does not match with your character. Why are you doing all these and for what? Why are you crying? Citravega replied that to discuss all these is now useless. Because after the completion of the work to discuss its cause is meaningless as there is no use of constructing dam after the flood has already come. Why are you preventing me when I am ready to embrace the death? Then the gentleman asked me to tell the reason why I was doing so because there may be any possible remedy. I told him my story from beginning to end in detail. After hearing my story he told that it is not good to die for a woman, especially a person like you who is embodiment of morality.(1-10)

He added "you are very fortunate because you were always in touch with your beloved" and the assurance of god is a big hope for you. It is also good that to exchange your emotions you both live in the same city. Look at me, I have no hope at all to see her but I am not ending my life. Then I asked that gentleman why do you not know about the place where your beloved resides. I requested him to tell about him in detail as to who he is, where he has come from with what purpose?

He told that on this mountain there is a city like Indrapurī named Suranandana, surrounded by a lot of Vidyādhara Nagaras and designed by multiple crossroads and beautiful gardens. There lived a

king Haricandra with his queen Ratnavatī, son Prabhanjana and daughter Bandhusundarī. Bandhusundarī was married to Bhānugati, the king of Camarachancha. After some time she got a daughter named Citralekhā and a son Citragati. King Haricandra, after leading a pleasant life, throned to his son Prabhañjana as a king and himself got initiated in monastic order. Dissipating his all karmas through severe austerity he became Kevalī under a Cāraṇa Ṛṣi named Sumukha.

Prabhañjana had two queens named Kalaharṣī and Mañjūṣā respectively. Kalaharṣī gave birth to a elder son Jwalanaprabha and Mañjūṣā to a younger son Kankaprabha. Chitralkhā, the daughter of Bandhusundarī got married to Jwalanaprabha and started to enjoy her life with her husband at Suranandana city. (11-46)

Once Prabhañjana seeing a moon-like white temple in the clouds decided to construct a splendid Jina-temple in the same manner. He tried to sketch the design of that temple but suddenly the clouds disappeared. He felt that all the worldly things are temporary alike the same. All the pleasures and life itself are momentary only. So he decided to give away his kingdom and wealth etc. He told his feelings to his nearby Vidyādhara. There arrived a monk named Sughoṣa possessing four types of knowledge i.e., sensory, scriptural, clairvoyance and telepathy. The king Prabhañjana gave his kingdom to Jwalanaprabha and Prajñapti-vidyā to Kanakaprabha and took monastic order under Muni Sughoṣa. Kanakaprabha by using that Prajñapti-vidyā snatched his elder brother Jwalanaprabha's kingdom. After loosing his kingdom Jwalanaprabha goes back to his father-in-law Bhānugati in Chamarchanchā. (46-69)

O Chitravega! Jwalanaprabha started to live there in Caramchanchā. Once he went with his brother-in law Citragati to a nearby garden. He saw there a Kevalajñānī monk sitting beneath the red Aśoka tree on a golden lotus whom many of the Vidyādhara, gods, and citizens were paying respect. He recognized that monk as his father Prabhanjana. He worshiped his father and started to listen his preachings. Muni Prabhañjana told that the wealth is moveable like a child elephant's ear. Nothing is eternal in this world. Many of

the people are suffering from several types of miseries and deceases. Birth as a human is a very important thing. No one is savior other than Jinadharmā. The ultimate bliss is in restraint only so get initiated in Jinadharmā. Influenced with his preachings many people got initiated and accepted Jinadharmā.

Many people took monastery order by his preachings. Then Jwalanaprabha asked his Kevalī father when he would get back his kingdom. His father assured him that he would get back his kingdom provided he uses Rohiṇīvidyā given by Bhānugati. Jwalanaprabha came back to Bhānugati and learnt Rohiṇīvidyā. Citragati also learnt Rohiṇīvidyā along with Bhānugati for six months in a jungle. Once Citralekhā was passing through the jungle very scared. Citragati asked to his sister Citralekhā 'what she is doing there in jungle' and why she is so scared? She told that coming back from garden she got mesmerized by some. As a result she came to this jungle where she suddenly met to Kanakaprabha. He proposed me and threatened to kill if I do not accept him. Any how I managed to escape from there and have come to you, please save me. Suddenly Kanakaprabha came there and kidnapping Citralekhā disappeared in the sky. Citragati warned Kanakaprabha to leave Citralekhā otherwise he would kill him. Citragati chased Kanakaprabha to get back his sister. (70-114)

Kanakaprabha hypnotized Citragati also and brought him to his city Suranandana. He asked Citragati to sit in the temple and pray Jineśvara with other vidyādharmas. In the meanwhile there came a person named Damaghoṣa sent by Jwalanaprabha. He told Citragati that Jwalanaprabha was stable in practicing Rohiṇīvidyā when you were chasing your sister in the sky. The Rohiṇīvidyā was happy with Jwalanaprabha's practice and appeared before him asking to demand something. Jwalanaprabha asked her to bring back her wife Citralekhā. She told that nothing has happened with Citralekhā. She is at your home. Kanakaprabha did all this to tease you only. Citragati is also sitting in the Jinabhavana of Suranandana city.

In the meanwhile after the snātra-pūjā was completed people entered in the city sitting on the horses and elephants. While coming back Citragati saw that an elephant had gone mad and was destroying

things and people near a temple. When he saw that a young girl being chased by the elephant fell down on the ground, he saved the girl and took her to another safe place. Then the relatives of the girl came and took her to their home. When they started to their home Citragati and the girl exchanged their rings as both were attracted to each other. Citragati was now thinking how to get the girl. All the time he was thinking about the girl. He spent his night at the temple. In the morning when he was going to father of that girl, he saw that the full city ahead him was without any resident. He asked about this strange to a man near by him, he replied that Kanakaprabha, the king of this city overcoming with passions, flown over this Jina temple and his all Vidyās were lost. Knowing that Jwalanaprabha has got all the Vidyas, Kanakaprabha ran away to get shelter with the Gandhavāhana, the king of Gangavarta and the people of this kingdom also fled from the city. (115-203)

Citragati thought that how it would be possible to find the girl particularly when he does not know the name or surname of the girl. He then decided to visit all Vidyādhara nagaras and started with north range of Vaitādhya mountains to south range. When he came to a garden of Kunjaravarta nagar, he found some auspicious gesture, which fastens his hope to meet her. While thinking he felt asleep in the garden. After sometime he awaked hearing the call of Citravega and saw him trying to hang himself on the tree. Hearing his story Citravega told that now these all talks are useless because she is going to be married today night. Then Citragati told Citravega that there is one way to get back the girl. He told that this is a custom of the Vidyādharas of south range that the girl to be married worships Kāmadeva alone and then gets married. So she would definitely come to Kāmadeva temple. When she would enter in the temple, you just take Kanakamālā out and myself wearing the clothes of girl would go to the groom. And thereafter I would join you. By this way the God's preaching would come true and we will also get that we want. Citravega agreed with the proposal and said O Supratiṣṭha! I am really in deep attachment with Kanakamālā.

Here the 5th pariccheda ends.

सुरसुंदरी चरिअं पंचम-परिच्छेदः

पुरुषनो उपदेशः

गाहा—

अह सो दट्टूण ममं विद्वाण-मुहं गलंत-नयणिल्लं ।
कर-यल-निमिय-कवलं एवं भणित्तं समाढत्तो ॥१॥

संस्कृत छाया—

अथ स दृष्ट्वा मां विद्वाणमुखं गलन्नयनवन्तम् ।
करतलन्यस्तकपोल—मेवं भणितुं समारब्धः ॥१॥

गुजराती अर्थ—

पछी म्लान मुखवाळा आंखमांथी झरता अश्रुवाळा अने हथेळीमां मुकेला गालवाळा मने जोईने ते आ प्रमाणे कहेवा लाग्यो.

हिन्दी अनुवाद—

फिर मुरझाये हुए मुखवाले, नयनों से गिरते अश्रुवाले और हथेली पर रखे हुए गालवाले मुझे देखकर वह इस प्रकार कहने लगा ।

गाहा—

सुंदर! तुह सरिसाणं उत्तम-पुरिसाण जुज्जइ न काउं ।
अहम-जण-समाइन्नो अण्य-वहो कुगइ-संजणणो ॥२॥

संस्कृत छाया—

सुन्दर ! तव सदृशाना - मुत्तमपुरुषाणां युज्यते न कर्तुम् ।
अधमजन-समाचीर्ण आत्मवधः कुगति-सञ्जननः ॥२॥

गुजराती अर्थ—

हे-सुन्दर ! तमाए जेवा उत्तम पुरुषोने आवी अधम लोकोथी आचरित अने दुर्गतिदायक सवी आत्महत्या करवी योग्य नथी.

हिन्दी अनुवाद—

हे सुन्दर ! आप जैसे उत्तम पुरुषों को अधम लोगों के द्वारा आचरित और दुर्गतिदायक आत्महत्या करनी योग्य नहीं है ।

गाहा—

अन्नं च। को सि तुमं? कस्स कओ केण व कज्जेण
'एयमायरियं? ।

कीस ससोगो सुंदर! अविरल-थूलंसुए(णि) मुयसि ? ॥३॥

संस्कृत छाया—

अन्यच्च कोऽसि त्वं? कस्य कुतः केन वा कार्येण एतदाचरितम् ?

कस्मात् सशोकः सुन्दर! अविरल स्थूलाश्रूणि मुञ्चसि? ॥३॥

गुजराती अर्थ—

अने वळी तुं कोण छे ? कोनो पुत्र छे ? क्वांथी आव्यो छे ? अने
क्वा कारण थी आवु आचरण कर्युं ? तथा हे सुन्दर ! शा कारण थी
शोकसहित निरंतर मोटा आंसुओ वहावे छे ?

हिन्दी अनुवाद—

तुम कौन हो किसके पुत्र हो ? कहाँ से आये हो और किस हेतु ऐसा
कृत्य किया? हे सुन्दर ! किस हेतु से शोकाकुल हो निरन्तर अश्रु बूँदे टपका
रहे हो ?

गाहा—

दीहं नीससिऊणं तत्तो य मए तथा इमं भणियं ।

किं कहियाए इमाए विहलाए सुयणु! वत्ताए? ॥४॥

संस्कृत छाया—

दीर्घं निःश्वस्य ततश्च मया तदेदं, भणितम् ।

किं कथितयाऽनया विफलया सुतनो! वार्तया ॥४॥

गुजराती अर्थ—

अने त्याचपछी उंडो नीसासो मूकीने में तेने त्याचे आ प्रमाणे कळ्युं
हे ! सुतनु ! आवी निष्फल बातो कहेवाथी शुं (फायदो छे ?)

हिन्दी अनुवाद—

और बाद में लंबा निःश्वास छोड़कर मैंने उसे तब इस प्रकार कहा, हे सुतनु!
ऐसी निष्फल बात कहने से क्या (लाभ?)

गाहा—

कहिण्ण जेण लब्भइ कोवि गुणो, तमिह साहिउं जुत्तं ।

अन्नह पुण तुस-खंडण-सरिसेणं किं नु कहिण्णं ? ॥५॥

संस्कृत छाया—

कथितेन येन लभ्यते कोऽपि गुणस्तदिह कथयितुं युक्तम् ।

अन्यथा पुनस्तुष-खण्डन-सदृशेन किं नु कथितेन ? ॥५॥

गुजराती अर्थ—

जे कहेवाथी कोइपण लाभ प्राप्त थाय तेने कहेवुं योग्य छे । नहीं तो फोतएने खाण्डवा सम्मान आ कहेवाथी शुं फायदो ?!

हिन्दी अनुवाद—

जिसे कहने से लाभ प्राप्त होता हो, उसे कहना उचित है वरना भूसी को कूटने जैसी बातों से क्या फायदा ?

गाहा—

अवि य वोलीण-पाय-कज्जे साहारो कोवि नत्थि कहिण्ण ।

गय-पाणियम्मि पालीइ बंधणं कं गुणं लहउ? ॥६॥

संस्कृत छाया—

अपि च गत-प्रायः-कार्ये स्वाधारः कोऽपि नास्ति कथितेन ।

गतपानीये पाल्या बन्धनं कं गुणं लभेत? ॥६॥

गुजराती अर्थ—

अने वळी जे कार्य वीती गयुं होय तेने कहेवाथी कोई सहारो आपनाए थलुं नथी, जेम पाणी वही गयुं होय त्याटे पाळ बांधवाथी शुं फायदो थाय?

हिन्दी अनुवाद—

जो कार्य प्रायः पूर्ण हो गया है उसे कहने से कोई भी सहारा देनेवाला नहीं होता, जैसे पानी निकल जाने पर बाँध बांधने से क्या लाभ ?

गाहा—

दुस्सह-दुक्ख-समुच्छेयणम्मि उज्जुत्त-माणसस्स तुमे ।

कीस कयं मह विग्घं पाण-च्चायं करेत्तस्स? ॥७॥

संस्कृत छाया—

दुस्सह-दुःख-समुच्छेदने उद्युक्त-मानसस्य त्वया ।

कस्मात् कृतं मे विघ्नं प्राणत्यागं कुर्वतः ? ॥७॥

गुजराती अर्थ—

असह्य दुःख ने नष्ट करवामां तत्पर मनवाळा प्राणत्याग करतां मने तमे शा कारणथी विघ्न करी छे ?

हिन्दी अनुवाद—

दुःसह्य दुःख का नाश करने में उद्यत मन वाले प्राण त्याग करते हुए मुझको आप क्यों रोकते हो ?

गाहा—

ता मा काहिसि इण्हंपि मज्झ विगंधति, ताहि सो भणइ ।

मा भद्द! कुणसु एवं साहसु मह कारणं ताव ॥८॥

संस्कृत छाया—

तस्मान्मा करिष्यसीदानी-मपि मे विघ्नमिति, तदा स भणति ।

मा भद्र! कुरुष्व एवं कथय मह्यं कारणं तावत् ॥८॥

गुजराती अर्थ—

माटे हजी पण तुं मने कांई विघ्न ना करीश. त्याटे तेणे कहुं हे भद्द ! तमे आवुं न करी, मने कारण कहो !

हिन्दी अनुवाद—

इसलिए आप इसमें विघ्न पैदा मत कीजिए । तब उसने कहा - हे भद्र! तुम ऐसा कृत्य मत करो, मुझे कारण बताओ ।

गाहा—

विनायमि सरूवे जेण उवाओवि लब्भए कोवि ।

तत्तो य मए कहिया नीसेसा पुव्व-वत्ता से ॥९॥

संस्कृत छाया—

विज्ञाते स्वरूपे येनोपायोऽपि लभ्यते कोऽपि ।

ततश्च मया कथिता निःशेषा पूर्ववार्त्ता तस्मै ॥९॥

गुजराती अर्थ—

केम के स्वरूप जाण्ये छते कोई पण उपाय प्राप्त थाय छे. त्याचपछी में तेने संपूर्ण पूर्व घटना कही ।

हिन्दी अनुवाद—

क्योंकि स्वरूप जानने पर कुछ न कुछ उपाय मिलता है, तब मैंने उसे पहले की सारी घटना सुनाई !

गाहा—

उल्लंबण-अवसाणा तं सोउं सुप्पइड्डु! तेणाहं ।

भणिओ जुवईए कए न ह जुत्तं उत्तम-नराण ॥१०॥

एरिसमायरिउं भो! विसेसओ तुम्ह नीइ-कुसलाण ।

जीवंता जेण नरा कल्लाण-परंपरमुविंति ॥११॥ युग्मम्

संस्कृत छाया—

उल्लम्बना-वसानात् तां श्रुत्वा सुप्रतिष्ठ! तेनाहम् ।

भणितो युवत्याः कृते न खलु युक्त-मुत्तम-नराणाम् ॥१०॥

ईदृशमाचरितुं भो! विशेषतो युष्माकं नीतिकुशलानाम् ।

जीवन्तो येन नराः कल्याण-परम्परामुपयन्ति ॥११॥ युग्मम्

गुजराती अर्थ—

गळामां पाश सुधीनी सम्पूर्ण वात सांभळीने हे सुप्रतिष्ठ ! तेणे मने कहुं के, उत्तम पुरुषो ने युवतीने माटे आवुं कएवुं योग्य नथी ! वळी विशेषथी नीतिकुशल रवा तमाचा माटे आवुं आचरण अयोग्य ज छे, केम के जीवतां माणसो कल्याणनी पटंपरा ने मेळवे छे ।

हिन्दी अनुवाद—

हे सुप्रतिष्ठ ! कण्ठपाश तक की सम्पूर्ण घटना सुनकर उसने मुझसे कहा कि उत्तम पुरुषों को एक युवती के लिए ऐसा करना ठीक नहीं है ! विशेष रूप से आप जैसे नीतिकुशल मनुष्यों को ऐसा आचरण करना अयोग्य ही है ! क्योंकि जीवित मनुष्य कल्याण की परंपरा को पाता है ।

गाहा—

किंच! धन्नो सि तुमं जस्सत्थि ताव अन्नोन्न-वयण-संचारो ।

तह देवयाए वयणं आसाए निबंधणं अत्थि ॥१२॥

संस्कृत छाया—

किञ्च धन्योऽसि त्वं यस्यास्ति तावदन्योन्यवचनसञ्चारः ।

तथा देवताया वचन-माशया निबन्धनमस्ति ॥१२॥

गुजराती अर्थ—

अने वळी तुं धन्य छे केमके ताचे परस्पर वातलाप थयो छे तेमज देवतानुं वचन आशानुं कारण पण छे.

हिन्दी अनुवाद—

और फिर - तुम धन्य हो, क्योंकि तुम्हारा प्रिया के साथ परस्पर वार्तालाप हुआ है और देवता का वचन आशा का कारण भी है ।

गाहा—

तह एग-नगर-वासो अवरोप्पर-भाव-जणण-सगब्भो ।

ता कीस कुणसि सोयं, धन्नो तं पुन्नवंतो य ॥१३॥

संस्कृत छाया—

तथा एकनगरवासः परस्पर-भाव-जननसगर्भः ।

तस्मात् कस्मात् करोषि शोकं धन्यस्त्वं पुण्यवाँश्च ॥१३॥

गुजराती अर्थ—

तथा परस्पर भावनी उत्पत्तिथी गर्भित खवुं एक नगरमां रहेटाण छे पछी शा कारण थी धन्य अने पुण्यवान खवो तुं शोक करे छे ?

हिन्दी अनुवाद—

तथा परस्पर भावों की उत्पत्ति से गर्भित एक ही नगर में आवास है तो फिर धन्य और पुण्यवान तुम शोक क्यों करते हो ।

गाहा—

मह पुण पुन्न-विहूणस्स कहवि तदंसणम्मि जा आसा ।

तीएवि हु दालिदं तहवि हु धारेमि निय-पाणे ॥१४॥

संस्कृत छाया—

मम पुनः पुण्यविहीनस्य कथमपि तद्दृशि याऽऽआशा।

तस्या अपि खलु दारिद्र्यं तथापि खलु धारयामि निजप्राणान् ॥१४॥

गुजराती अर्थ—

वळी पुण्यरहित माची तेणीनां दर्शनिना विषे जे आशा हती तेनो पण खरेखर अभाव छे तो पण हुं माचा प्राणोने धारण करुं छु.

हिन्दी अनुवाद—

मुझ अभागे की उसे देखने की जो आशा थी उसका भी सर्वथा अभाव है । फिर भी मैंने अपने प्राण धारण किये हैं ।

गाहा—

कित्तियमित्तं दुःखं होते वयण-क्कमम्मि तुह भद्र! ? ।

जं मह मण-दइयाए ठाणाइं अयाणमाणस्स ॥१५॥

संस्कृत छाया—

कियन्मात्रं दुःखं भवति वचनक्रमे तव हे भद्र! ? ।

यन्मे मनोदयितायाः स्थानान्यजानतः ॥१५॥

गुजराती अर्थ—

हे भद्र ! (आटला च्छधा आश्वासनो) वचनोनी परंपरा होवा छतां तमने आटलुं दुःख छे तो पछी प्रियाना स्थानो (समाचार आदि)ने नहीं जाणता मने (केटलुं दुःख हशे !)

हिन्दी अनुवाद—

हे भद्र ! (इतने सारे आश्वासनों) वचन परम्परा के बावजूद तुम्हें कितना दुःख है । तो फिर मनोदायिता के स्थानों (समाचार आदि) को नहीं जानने वाले मुझे कितना (कष्ट होगा ?)

गाहा—

तत्तो य मए भणियं साहसु मह ताव नियय-वुत्तंतं ।

ठाणांपि नेय जाणसि कह णु तुमं नियय-दइयाए? ॥१६॥

संस्कृत छाया—

ततश्च मया भणितं कथय मे तावन्निजक-वृत्तान्तम् ।

स्थानमपि नैव जानासि कथ-ञ्च त्वं निजकदयितायाः? ॥१६॥

गुजराती अर्थ—

त्यारपछी में कह्युं - 'तमाचो पोतानो वृत्तान्त मने जणावो, तमे तमाची प्रियतमानुं स्थान पण केम जाणता नथी ?

हिन्दी अनुवाद—

फिर मैंने कहा अपना वृत्तान्त मुझे कहो, अपनी प्रिया का स्थान भी तुम क्यों नहीं जानते हो ?

गाहा—

कस्मि पुरे तुह वासो, केण व कज्जेण आगओ एत्थ? ।
तत्तो य तेण भणियं, एग-मणो भो! निसामेहि ॥१७॥

संस्कृत छाया—

कस्मिन् पुरे ते वासः?, केन वा कार्येणागतोऽत्र? ।
ततश्च तेन भणितमेकमना भो! निशामय ॥१७॥

गुजराती अर्थ—

तमारु एहेटाण कया नगरमां छे ? अथवा कया कार्यथी अहीं आववानुं थयुं छे ? त्पारपछी तेणे कह्युं, तुं मन दईने सांभळ !

हिन्दी अनुवाद—

आप किस नगर के वासी हैं अथवा किस हेतु से यहाँ आये हैं ? तब उसने कहा- आप ध्यान से सुनिए !

गाहा—

एत्थेव अत्थि सेले बहु-विज्जाहर-पुरोह-परिकलिए ।
सुविभक्त-तिय-चउक्कं नाणा-उज्जाण-रमणीयं ॥१८॥
सुविसाल-साल-कलियं सक्कंदण-पुर-वरस्स सारिच्छं ।
उत्तर-सेढीए पुरं पवरं सुरनंदणं नाम ॥१९॥ युग्गम् ॥

संस्कृत छाया— सुरनन्दन नगर

अत्रैवास्ति शैले बहुविद्याधर-पुरौघ-परिकलिते ।
सुविभक्त-त्रिक-चतुष्कं नानोद्यानरमणीयम् ॥१८॥
सुविशाल-साल-कलितं सङ्क्रन्दन-पुर-वरस्य सदक्षम् ।
उत्तरश्रेण्यां पुरं प्रवरं सुरनन्दनं नाम ॥१९॥ युग्गम् ॥

गुजराती अर्थ—

उत्तरश्रेणीमां घणा विद्याधर नगरोना समूहथी शोभता आज पर्वत पर साठी रीते त्रिक, चतुष्कथी विभाग कएयेल घणा उधानोथी रमणीय, विशाल किल्लाथी युक्त इन्द्रना श्रेष्ठनगर जेवुं सुरनन्दन नामनुं श्रेष्ठ नगर छे!

हिन्दी अनुवाद—

अनेक विद्याधर नगरों के समूह से शोभित इसी पर्वत पर उत्तम श्रेणी में अच्छी तरह से तिराहों और चौराहों से विभाजित विविध उद्यानों से रमणीय सुविशाल किलों से युक्त, इन्द्रपुरी जैसा सुरनन्दन नाम का श्रेष्ठ नगर है !

गाहा— हरिश्चन्द्र राजा

साहीण-सयल-विज्जो विज्जाहर-नियर-पणय-पय-कमलो ।

कमल-दल-तुल्ल-नयणो नयण-मणाणंदणो सूरु ॥२०॥

सूरुव्व निहय-तेयस्सि-तेय-निवहो अखंडिय-पयावो ।

दण्डि-वड्ढिरि-वारण-निवारणे सीह-पोय-समो ॥२१॥

विज्जाहराण राया सुप्रसिद्धो चेव सव्व-खयराण ।

पसरंत-विमलकित्ती आसी हरिचंद-नामोत्ति ॥२२॥

॥तिसुभिः कुलकम्॥

संस्कृत छाया— (हरिश्चन्द्र राजा)

स्वाधीन-सकल-विद्यो विद्याधरनिकरप्रणत-पदकमलः ।

कमलदल-तुल्य-नयनो नयनमन आनन्दनः शूरः ॥२०॥

सूर इव निहततेजस्वि-तेजोनिवहोऽखण्डितप्रतापः ।

दर्पिष्ठ-वैरी-वारण-निवारणे सिंहपोतसमः ॥२१॥

विद्याधराणां राजा सुप्रसिद्धश्चैव सर्व-खचराणाम् ।

प्रसरद्-विमल-कीर्ति-रासीन्द्ररिचन्द्र-नामा इति ॥२२॥

॥त्रिभिः कुलकम्॥

गुजराती अर्थ—

सकळ विद्याओ जेमने स्वाधीन छे. विद्याधरनो समूह जेमना चरणकमलमां नमेलो छे. कमळना पांदां जेवी जेमनी आंखो छे. नयन अने मनने आनंद आपनाए शूरवीर, तेजवाळाओना तेजना समुदाय ने जेमणे हणी नांख्यो छे तेवा सूर्य जेवा अखंडित प्रतापवाळा अहंकारी वैरीरूपी हाथीओने दूर करवा माटे सिंहना बच्चा समान विद्याधरनो राजा अने सर्व विद्याधरओमां सुप्रसिद्ध अने फेलायेली निर्मळ कीर्तिवाळो खो हरिचन्द्र नामनो राजा हतो.

हिन्दी अनुवाद—

सर्वविद्यास्वतन्त्र विद्याधर समूह से सेवित चरणकमलवाले, कमलपत्र जैसे नयनोंवाले, नयन और मन को आनंद देनेवाले, शूरवीर तेजस्विओं के तेज पुंज को नष्ट करनेवाले, सूर्य जैसे अखंडित प्रतापवाले अहंकारी शत्रुरूपी हाथियों को भगाने के लिए सिंह शावक जैसे विद्याधरों के राजा, सभी आकाशगामियों में सुप्रसिद्ध और चारों तरफ फैली निर्मल कीर्ति वाले हरिचन्द्र नाम के राजा थे ।

गाहा—

सरसिरुह-सरिस-वयणा नीलुप्पल-दल-विसाल-वर-नयणा ।

कमलोयर-रुड़-देहा रयणवई नाम से महिला ॥२३॥

संस्कृत छाया—

सरसिरुह-सदृश-वदना नीलोत्पलदल-विशालवरनयना ।

कमलोदर-रुचि-देहा रत्नवती नाम तस्य महिला ॥२३॥

गुजराती अर्थ—

कमल जेवा मुखवाळी, नीलकमलना पर्ण जेवी श्रेष्ठ विशाळ नयनवाळी, कमलोदरनी कांति जेवा देहवाळी रत्नवती नामनी तेनी राणी हती !

हिन्दी अनुवाद—

कमल जैसे मुखवाली नीलकमल के पर्ण जैसी विशाल नेत्रोंवाली कमल कर्णिका की कांति जैसे देहवाली, रत्नवती नाम की उसकी रानी थी ।

गाहा—

सयलोरोह-पहाणाए तीए पाण-प्यियाए देवीए ।

समयं ति-वग्ग-सारं विसय-सुहं अणुहवंतस्स ॥२४॥

देव-कुमार-सरिच्छो अह तीए दारओ समुप्पन्नो ।

उच्चिय-समए य तेहिं पहंजणो नाम से विहियं ॥२५॥

संस्कृत छाया—

सकलावरोध-प्रधानया तथा प्राणप्रियया देव्या ।

समकं त्रिवर्गसारं विषयसुख-मनुभवतः ॥२४॥

प्रभञ्जन अने बन्धुसुन्दरी

देवकुमार-सदृक्षोऽथ तस्या दारकः समुत्पन्नः ।

उचितसमये च ताभ्यां प्रभञ्जनो नाम तस्य विहितम् ॥२५॥

गुजराती अर्थ—

समस्त अंतःपुरमां मुख्य, प्राणप्रिया ते देवी साथे त्रणवर्गमां सारभूत विषयसुख ने भोगवता, ते राजाने तेणीथी देवकुमार जेवो पुत्र उत्पन्न थयो. अने उचित समये मातापिता वडे ते चाळकनुं नाम 'प्रभंजन' रखायुं।

हिन्दी अनुवाद—

समस्त अन्तःपुर में प्रधान प्राणप्रिया देवी के साथ तीन वर्गों में श्रेष्ठ विषयसुख को भोगते हुए उस राजा को रानी से देवकुमार जैसा पुत्र उत्पन्न हुआ और उचित समय पर माता-पिता ने बालक का नाम प्रभंजन रखा।

गाहा—

धूया य बंधुसुंदरि-नामा असमाण-रूव-लावन्ना ।

दोत्रिवि ताइं कमसो पत्ताइं जोव्वणं पढमं ॥२६॥

संस्कृत छाया—

दुहिता च बन्धुसुन्दरी-नाम्नी असमानरूपलावण्या ।

द्वावपि तौ क्रमशः प्राप्तौ यौवनं प्रथमम् ॥२६॥

गुजराती अर्थ—

अनन्य रूपलावण्याथी युक्त 'बन्धुसुन्दरी' नामनी पुत्री थई. अने ते बहने पुत्र-पुत्री क्रमे कहीने यौवनने पाव्या।

हिन्दी अनुवाद—

और अनन्य रूप लावण्य से युक्त बन्धुसुन्दरी नाम की पुत्री भी हुई, दोनो (भाई-बहन) क्रमशः बड़े होते हुए प्रथम यौवन को प्राप्त हुए।

गाहा—

अह अन्नया कयाइवि अवरोप्पर-नेह-गरुय-भावाणं ।

एगंतम्मि ठियाणं उल्लावो तेसिं संजाओ ॥२७॥

संस्कृत छाया—

अथान्यदा कदाचिदपि परस्पर-स्नेहगुरुकभावयोः ।

एकान्ते स्थितयोरुल्लापस्तयोः सञ्जातः ॥२७॥

गुजराती अर्थ—

हवे एक वखत क्यारेक परस्पर अतिस्नेह भावथी एकान्तमां छेडा हता त्याटे ते बहनेनो वार्तालाप थयो।

हिन्दी अनुवाद—

फिर किसी समय परस्पर स्नेह भरे चित्तवाले और एकान्त में रहे उन दोनों का परस्पर वार्तालाप हुआ।

गाहा—

भणियं पहंजणेणं पढमं तुह होइ किंचि जमवच्चं ।
धूया वा तणओ वा तं मह तणयस्स दायव्वं ॥२८॥

संस्कृत छाया—

भणितं प्रभञ्जनेन प्रथमं ते भवति किञ्चिद् यदपत्यम् ।
दुहिता वा तनयो वा तन्मे तनयाय दातव्यम् ॥२८॥

गुजराती अर्थ—

प्रभञ्जने कह्युं - (हे चहेन) जो तने पहेलुं चाळक थाय, पुत्र के पुत्री, ते माए चाळकने आपवुं.

हिन्दी अनुवाद—

प्रभंजन ने कहा (हे बहन), तुझे प्रथम पुत्र या पुत्री जो भी बालक हो उसे मेरे बालक को देना ।

गाहा—

अविय। तुज्ज महं वा जं होज्ज किंपि इह पढमगं तु डिंभ-
रु (रू) यं ।

अवरोप्पर-संबंधो ताणं अम्हेहिं कायव्वो ॥२९॥

संस्कृत छाया—

अपि च। तव मम वा यद् भवेत् किमपीह प्रथमं तु डिम्भरूपम् ।
परस्पर-सम्बन्धस्तयो-रावाभ्यां कर्तव्यः ॥२९॥

गुजराती अर्थ—

अने वळी, ताटे के माटे जे पहेलुं सुन्दर चाळक थाय ते खेनो पटस्पट सम्बन्ध आपणे करवो ।

हिन्दी अनुवाद—

अथवा तुझे या मुझे जो भी पहला बालक होगा उन दोनों का हम परस्पर संबंध करेंगे ।

गाहा—

ता बंधुसुंदरीए तंहत्ति बहु मन्नियं तयं वयणं ।

गरुय-सहोयर-सब्भाव-नेह-अक्खित्त-चित्ताए ॥३०॥

संस्कृत छाया—

तदा बन्धुसुन्दर्या तथेति बहुमतं तद्-वचनम् ।

गुरुकसहोदर-सद्भाव-स्नेहाक्षिप्त-चित्तया ॥३०॥

गुजराती अर्थ—

त्यारे भाईना प्रति अत्यंत सद्भाव अने स्नेहथी आकृष्ट चित्तवाळी बन्धुसुन्दरीए “साठ” ए प्रमाणे तेना वचननुं मान राख्युं.

हिन्दी अनुवाद—

तब भाई के प्रति अत्यंत सद्भाव और स्नेह से आकृष्ट चित्तवाली बन्धुसुन्दरी ने “अच्छा” इस प्रकार बहुमान से वचन स्वीकार लिया ।

चमरचञ्चा नगर वर्णन

गाहा—

एत्तो य अत्थि नयरं वेयङ्गे उत्तराए सेठीए ।

सव्वोउय-तरु-वण-संड-मंडियं चमरचंचंति ॥३१॥

संस्कृत छाया—

इतश्चास्ति नगरं वैताढ्ये उत्तरस्यां श्रेण्याम् ।

सर्वर्तुकतरुवनषण्डमण्डितं चमरचञ्चामिति ॥३१॥

गुजराती अर्थ—

अहीं वैताढ्य पर्वत पर उत्तर श्रेणीमां सर्व ऋतुना वृक्षवाळ वनखण्डोथी शोभतुं चरमचंचा नामनुं नगर हतुं.

हिन्दी अनुवाद—

इस तरफ वैताढ्य पर्वत पर उत्तमश्रेणी में सर्व ऋतु के वृक्षों से युक्त वनखण्डों से मनोहर चमरचंचा नाम का नगर था ।

गाहा—

तत्थ य खयर-नरीसो भाणुगई नाम अतुल्ल-सामत्थो ।

निज्जिय-अणंग-रूवो कामिणि-जण-माणसाणंदो ॥३२॥

संस्कृत छाया—

तत्र च खचरनरेशो भानुगतिर्नामानामाऽतुल्यसामर्थ्यः ।

निर्जितानङ्गरूपः कामिनीजनमानसानन्दः ॥३२॥

गुजराती अर्थ—

अने त्यां अतुल्य सामर्थ्यवान्, रूप वडे कामदेवने जीतनाए स्त्रीजनोना मनने आनन्द आपनाए 'भानुगति' नामनी विद्याधर राजा हतो !

हिन्दी अनुवाद—

और वहाँ अतुल्य सामर्थ्यवान्, सुन्दरता में कामदेव को भी पराजित करनेवाला स्त्रीजन के मन को आनन्दित करनेवाला 'भानुगति' नाम का विद्याधर राजा था !

गाहा—

हरिचंद-खयर-पवरेण निय-सुया बंधुसुंदरी तस्स ।

दिन्ना वर-पीईए विवाहिआ सायरं तेण ॥३३॥

संस्कृत छाया—

हरिचन्द्रखचरप्रवरेण निजसुता बन्धुसुन्दरी तस्मै ।

दत्ता वरप्रीत्या विवाहिता सादरं तेन ॥३३॥

गुजराती अर्थ—

विद्याधर श्रेष्ठ सवा हरिचन्द्र राजाए पोतानी पुत्री बन्धुसुन्दरी खूब प्रेम पूर्वक तेने आपी. अने ते पण आदरपूर्वक तेणीनी साथे पटण्यो !

हिन्दी अनुवाद—

विद्याधर में उत्तम हरिचन्द्र राजा ने भानुगति को अपनी पुत्री बन्धुसुंदरी अति प्रेमपूर्वक दी और भानुगति ने भी आदरपूर्वक उसके साथ विवाह किया ।

गाहा—

तीइ सुतणुइ समयं अणुहवमाणो उ गरुय-पीईए ।

पंच-पयारे विसए भाणुगई भुंजई रज्जं ॥३४॥

संस्कृत छाया—

तया सुतन्व्या समकमनुभवन् तु गुरुप्रीत्या ।

प्रञ्चप्रकारान् विषयान् भानुगति भुंक्ति राज्यम् ॥३४॥

गुजराती अर्थ—

सुन्दर देहवाळी तेणीनी साथे अत्यंत स्नेहपूर्वक पाँच प्रकारना विषयोने भोगवतो भानुगति राज्यने भोगवतो हतो.

हिन्दी अनुवाद—

सुंदर देहवाली उसके साथ अत्यंत प्रेम से पाँच प्रकार के विषयों का अनुभव करते हुए भानुगति राज्य का भोग करता था ।

चित्रलेखा

गाहा—

वच्चंतेसु दिणोसुं तीए देवीए दारिया जाया ।

उज्जोइय-दिसि-वलया उ चित्तलेहत्ति नामेण ॥३५॥

संस्कृत छाया—

ब्रजनेषु दिनेषु तस्या देव्या दारिका जाता ।

उद्योतित-दिग्वलया तु चित्रलेखेति नाम्ना ॥३५॥

गुजराती अर्थ—

दिवसो जतां ते देवीने दिशा मण्डलने प्रकाशित करती चित्रलेखा नामनी पुत्री जन्मी !

हिन्दी अनुवाद—

दिन बीतते उस देवी से दिशा मण्डल को प्रकाशित करनेवाली चित्रलेखा नाम की पुत्री उत्पन्न हुई ।

गाहा—

तयणंतरं च देवी सुंदर-सुविणोहिं सूइयं तणयं ।

सूया सुह-तिहि-रिक्खे चित्तगई नाम से विहियं ॥३६॥

संस्कृत छाया—

तदनन्तरं च देवी सुन्दरस्वप्नैः सूचितं तनयम् ।

सूता शुभतिथि-ऋक्षे चित्रगति-नाम तस्य विहितम् ॥३६॥

गुजराती अर्थ—

त्याए पछी देवीए सुन्दर स्वप्नोयी सूचित पुत्रने जन्म आप्यो अने शुभ तिथि नक्षत्रमां तेनुं नाम 'चित्रगति' राख्युं !

हिन्दी अनुवाद—

उसके बाद देवी ने सुंदर स्वप्नों से सूचित एक पुत्र को जन्म दिया और शुभ तिथि नक्षत्र में उसका नाम चित्रगति रखा !

गाहा—

हरिचंदोवि हु राया चारण-समणस्स सुमुह-नामस्स ।
पय-मूले सोऊणं जिण-धम्मं सिद्धि-सुह-हेउं ॥३७॥
नियय-पए ठविऊणं पहंजणं निय-सुयं विणिक्खंतो ।
संसार-वास-भीओ निव्विन्नो काम-भोगाण ॥३८॥युग्मम् ॥

संस्कृत छाया—

हरिचन्द्रोऽपि खलु राजा चारणश्रमणस्य सुमुखनाम्नः ।
पादमूले श्रुत्वा जिनधर्मं सिद्धिसुख-हेतुम् ॥३७॥
निज-पदे स्थापित्वा प्रभञ्जनं निज-सुतं विनिष्क्रान्तः ।
संसारवासभीतो निर्विण्णः कामभोगेभ्यः ॥३८॥युग्मम् ॥

गुजराती अर्थ—

सुमुख नामना (आकाशगामि विद्यावाळा) चारणश्रमणना चरण कमलमां मोक्षसुखना कारणभूत जिनधर्मने सांभळीने पोताना स्थाने पोताना पुत्र प्रभंजनने स्थापिने संसारवासथी गभरायेला, कामभोगेथी विरक्त थयेला राजा हरिचन्द्रे पण संयम ग्रहण कर्यु !

हिन्दी अनुवाद—

सुमुख नाम के चारणश्रमण के चरणकमल में सिद्धि सुख के हेतु रूप जिनधर्म को सुनकर संसारवास से डरा हुआ, कामभोगों से उद्विग्न हरिचन्द्र राजाने भी अपने स्थान पर अपने पुत्र प्रभंजन को स्थापित करके संयम ग्रहण किया !

गाहा—

सामन्नं काऊणं पय-मूले चारणस्स सुमुहस्स ।
निट्ठविय-कम्म-जालो अंतगडो केवली जाओ ॥३९॥

संस्कृत छाया—

श्रामण्यं कृत्वा पदमूले चारणस्य सुमुखस्य ।
निष्ठापितकर्मजालोऽन्तकृत् केवली जातः ॥३९॥

गुजराती अर्थ—

सुमुख नामना चारणऋषिना चरणकमलमां श्रमणजीवन स्वीकारीने. कर्म रूपी जाळनो नाश करीने अन्तकृत् (सज जन्ममां मोक्षे जवा वाळा). केवली थया ।

हिन्दी अनुवाद—

सुमुख नाम के चारणऋषि के चरणकमल में संयमजीवन जीकर कर्मजाल का नाश करके अन्तकृत् (उसी जन्म में मुक्ति पानेवाले) केवली बन गए ।

गाहा—

जाओ पहंजणोवि हु विज्जाहर-नरवई पयाविल्लो ।

भुंजइ जणय-विइणं रज्जं गय-सयल-आसंको ॥४०॥

संस्कृत छाया—

जातः प्रभञ्जनोऽपि खलु विद्याधरनरपतिः प्रतापवान् ।

भुनक्ति जनक-वितीर्णं राज्यं गत-सकलाऽऽशङ्कः ॥४०॥

गुजराती अर्थ—

प्रभंजन पण विद्याधरोनो प्रतापवान् राजा थयो. ते पिताए आपेला राज्यने सम्पूर्णपणे निःशंक थईने भोगववा लाग्यो.

हिन्दी अनुवाद—

प्रभंजन भी विद्याधरों में प्रतापी राजा हुआ । वह पिता से मिले राज्य को संपूर्ण रूप से निःशंकित होकर भोगने लगा ।

गाहा—

तस्स य सयलंतेउर-पवराओ दुन्नि अग्ग-महिसीओ ।

कलंहसी मंजूसा उत्तम-वंस-प्पसूयाओ ॥४१॥

संस्कृत छाया—

तस्य च सकलान्तःपुर-प्रवरे द्वेऽग्रमहिष्यौ ।

कलहंसी मञ्जूषोत्तमवंशप्रसूते ॥४१॥

गुजराती अर्थ—

अने तेना सकल अन्तःपुरमां श्रेष्ठ अने उत्तम कुळमां उत्पन्न थयेली कलहंसी अने मंजूषा नामनी चे पट्टारानीओ हती.

हिन्दी अनुवाद—

और उत्तमवंश में उत्पन्न कलहंसी एवं मंजूषा नाम की दो श्रेष्ठ पटरानियां उसके सकल अन्तःपुर में थी ।

गाहा—

कलहंसीए जाओ पुत्तो जलणप्पहोत्ति नामेण ।

मंजूसाए लहुओ पुत्तो कणगप्पहो नाम ॥४२॥

संस्कृत छाया—

कलहंस्या जातः पुत्रो ज्वलनप्रभ इति नाम्ना ।

मञ्जुषाया लघुकः पुत्रः कनकप्रभो नाम ॥४२॥

गुजराती अर्थ—

कलहंसीथी ज्वलनप्रभ नामनो (ज्येष्ठ) पुत्र थयो अने मंजूषाथी कनकप्रभ नामनो नानो पुत्र थयो.

हिन्दी अनुवाद—

कलहंसी से ज्वलनप्रभ नाम का (ज्येष्ठ) पुत्र उत्पन्न हुआ और मंजूषा से छोटा पुत्र कनकप्रभ हुआ ।

गाहा—

नियय-सहोयर-वयणं सुमरंती बंधुसुंदरी देवी ।

नारुण चित्तलेहं निय-धूयं जोव्वणं पत्तं ॥४३॥

अह तं भाउय-वयणं साहइ दइयस्स भाणुगइणो सा ।

तत्तो य भाणुगइणा निय-धूया चित्तलेहा सा ॥४४॥

दिन्ना खयर-पहंजण-सुयस्स जेट्टस्स रूव-जुत्तस्स ।

जलणपहस्स, तेणवि परिणीया परम-पीईए ॥४५॥ तिसुभिः

कुलकम् ॥

संस्कृत छाया—

निजकसहोदरवचनं स्मरन्ती बन्धुसुन्दरी देवी ।

ज्ञात्वा चित्रलेखां निजदुहितारं यौवनम्प्राप्ताम् ॥४३॥

अथ तद् भ्रातृवचनं कथयति दयिताय भानुगतये सा ।

ततश्च भानुगतिना निजदुहिता चित्रलेखा सा ॥४४॥

दत्ता खचरप्रभञ्जन-सुताय ज्येष्ठाय रूपयुक्ताय ।

ज्वलनप्रभाय, तेनापि परिणीता परमप्रीत्या ॥४५॥ त्रिभिः
कुलकम् ॥

गुजराती अर्थ—

पोताना भाईना वचनने याद करती बन्धुसुन्दरी देवीस पोतानी पुत्री
चित्रलेखाने जुवान थयेली जाणीने पोताना पति भानुगतिने भाईना ते वचन
कहे छे, त्याचे भानुगतिस पोतानी पुत्री चित्रलेखाने विद्याधर प्रभञ्जनना, रूपवान
(ज्येष्ठ) पुत्र ज्वलनप्रभने आपी अने तेणे पण परम प्रीतिपूर्वक तेणीने परणी!

हिन्दी अनुवाद—

अपनी पुत्री चित्रलेखा को यौवन प्राप्त देखकर, अपने भाई के वचन को
याद करती बन्धुसुन्दरी देवी ने अपने पति भानुगति से भाई की बात कही, तब
भानुगति ने भी (इस बात को सुनकर) विद्याधर प्रभञ्जन के सुंदर ज्येष्ठ पुत्र
ज्वलनप्रभ को अपनी पुत्री चित्रलेखा दी और उसने भी परम प्रीति से उसके साथ
विवाह किया ।

गाहा—

सुर-नंदणम्मि नयरे नीया अह तीए नेह-सहियाए ।

सह विसए भुञ्जंतो चिद्वइ देवो व्व दिय-लोए ॥४६॥

संस्कृत छाया—

सुरनन्दने नगरे नीताऽथ तथा स्नेहसहितया ।

सह विषयान् भुञ्जन् तिष्ठति देव इव दिव्यलोके ॥४६॥

गुजराती अर्थ—

हवे तेणीने सुरनन्दन नगरमां लई गयो अने देवलोकमां देवनी जेम
स्नेहवाळी तेणीनी साथे विषयोने भोगववा लाग्यो.

हिन्दी अनुवाद—

ज्वलनप्रभ उसे सुरनन्दन नगर ले गया और देवलोक में देव की तरह,
स्नेहवाली उसके साथ विषयसुख भोगने लगा ।

गाहा—

अह अन्नया कयाइवि खयराहिवई पहंजणो दट्टुं ।

गयणे ससंक-धवलं देव-उल-गोरयं गेहं ॥४७॥

अह चिंतितुं पयत्तो मणोहरो हंदि! एस आगारो ।
एयागिईए ता हं कारेमि जिणालयं रम्मं ॥४८॥

संस्कृत छाया—

अथान्यदा कदाचिदपि खचराधिपतिः प्रभञ्जनो दृष्ट्वा ।
गगने शशाङ्कधवलं देवकुल-गौरवं गेहम् ॥४७॥
अथ चिन्तयितुं प्रवृत्तो मनोहरो हन्दि! एतदागारम् ।
एतदाकृत्या तस्मादहं कारयामि जिनालयं रम्यम् ॥४८॥

गुजराती अर्थ—

क्याटेक विद्याधराधिपति प्रभंजने आकाशमां चन्द्र सभान उज्ज्वल
मन्दिर जेवा सफेद घरने जोईने विचारवा लाग्यो, अहो ! आ घर खरेखर
मनोहर छे. तेथी आवी ज आकृति प्रमाणे हुं मनोहर जिनालय चनावडावीश.

हिन्दी अनुवाद—

फिर एक दिन विद्याधराधिपति प्रभंजन चन्द्र जैसे उज्ज्वल और देवालय
जैसे सफेद घर को आकाश में देखकर सोचने लगा— निश्चय ही यह मनोहर (भव्य)
गृह है, इसी सुन्दर आकृति के अनुसार मैं भी मनोहर जिनगृह बनवाऊँगा ।

प्रभञ्जन चिंतन

गाहा—

मणि-कुट्टिमि ततो आलिहितं उज्जओ जया राया ।
ताव य झत्ति विलीणो पवण-हओ जलहरो सव्वो ॥४९॥

संस्कृत छाया—

मणि-कुट्टिमे तत आलेखितुमुद्यतो यदा राजा ।
तावच्च झटिति विलीनः पवन-हतो जलधरस्सर्वः ॥४९॥

गुजराती अर्थ—

पछी मणिजडित फर्स ऊपर आलेखन कएवा माटे ज्यां राजा तैयार
थयो. तेटली वारमां जल्दीथी पवनथी हणायेल सर्व भेघ विलीन थई गयो!

हिन्दी अनुवाद—

(ऐसा सोचकर) मणि जड़ित फर्श पर उसे चित्रित करने हेतु राजा तैयार
हुआ उतने में शीघ्र ही वायु से आहत सारे बादल बिखर गये !

गाहा—

दट्ठूण तं विलीणं खणेण राया विचिंतए एवं ।
एवंविहा नराणं लच्छीओ चवल-रूवाओ ॥५०॥

संस्कृत छाया—

दृष्ट्वा तं विलीनं क्षणेन राजा विचिन्तयत्येवम् ।
एवंविधा नराणां लक्ष्म्यश्चपलरूपाः ॥५०॥

गुजराती अर्थ—

क्षणमात्रमां विखरायेला तेने (मेघने) जोईने राजार आ प्रमाणे विचार
कर्यो, अरे ! मनुष्योनी सम्पत्तिओ आवी चंचळ स्वरूपवाळी होय छे !

हिन्दी अनुवाद—

क्षणमात्र में बिखरे हुए उसे (मेघ को) देखकर राजा ने इस प्रकार विचार
किया, अरे ! मनुष्यों की लक्ष्मी भी ऐसी ही चंचल (स्वभाववाली) होती है ।

गाहा—

जह एसो अब्भ-लवो खणेण दिट्ठो पुणो पणट्ठोत्ति ।
तह सव्वेवि पयत्था खणमित्ताणंद-संजणणा ॥५१॥

संस्कृत छाया—

यथा एषोऽध्रलवः क्षणेन दृष्टः पुनः प्रणष्ट इति ।
तथा सर्वेऽपि पदार्थाः क्षणमात्रानन्दसञ्जननाः ॥५१॥

गुजराती अर्थ—

जेवी चीते आ मेघ क्षणमां जोवायो अने वळी नाश पामी गयो तेवी
चीते बघा ज पदार्थो क्षणमात्र ज आनन्द आपनाए होय छे !

हिन्दी अनुवाद—

जिस तरह यह मेघ एक क्षण में दिखाई दिया और तुरंत नष्ट हो गया
ठीक उसी तरह सभी पदार्थ पल भर आनन्द देने वाले होते हैं !

गाहा—

रूवं च जीवियं जोव्वणं च सव्वेवि बंधु-संबंधा ।
एवमणिच्चा अव्वो! धिरत्थु संसार-वासस्स ॥५२॥

संस्कृत छाया—

रूपं च जीवितं यौवनं च सर्वेऽपि बन्धुसम्बन्धाः ।

एवमनित्या अहो! धिगस्तु संसारवासम् ॥५२॥

गुजराती अर्थ—

रूप, जीवन, यौवन अने चधा स्वजन सम्बन्धो आ प्रमाणे अनित्य होय छे. अहो ! आवा संसारवासने धिक्कार थाओ ।

हिन्दी अनुवाद—

इसी प्रकार रूप, जीवन, यौवन और सभी स्वजन सम्बन्ध अनित्य हैं । अहो ! ऐसे संसारवास को धिक्कार हो !

गाहा—

पच्चक्खं हि अणिच्चं नाऊणवि जं थिरं व मन्नंति ।

विसयाऽसत्ता सत्ता, एयं अविवेय-सामत्थं ॥५३॥

संस्कृत छाया—

प्रत्यक्षं ह्यनित्यं ज्ञात्वाऽपि यत् स्थिरमिव मन्यन्ते ।

विषयासक्ताः सत्त्वा एतदविवेक-सामर्थ्यम् ॥५३॥

गुजराती अर्थ—

केम के प्रत्यक्ष (पदार्थो)ने अनित्य जाणीने पण विषयासक्त प्राणीओं जे तेने स्थिर माने छे ते (तेओनी) अविवेकनी ज शक्ति छे.

हिन्दी अनुवाद—

प्रत्यक्ष पदार्थ को अनित्य जानकर भी विषयासक्त प्राणी जो स्थिर की तरह मानते हैं वह उनके अविवेक की ही शक्ति है । (अविवेक की ही प्रगाढ़ता है)

गाहा—

नाऊणवि जिण-वयणं आरंभ-परिग्गहेसु वडुंति ।

कामासत्ता जं पुण अहो! महा-मोह-माहण्यं ॥५४॥

संस्कृत छाया—

ज्ञात्वाऽपि जिनवचनमारम्भ-परिग्रहेषु वर्तन्ते ।

कामासक्ता यत्पुनरहो! महामोह-माहात्म्यम् ॥५४॥

गुजराती अर्थ—

वळी कामासक्त प्राणीओ जिनवचनने जाणीने पण जे आरम्भ-परिग्रह (सांसारिक कार्यकलाप)मां वर्ते छे, ते खटेखट आ महामोहनी ज खूबी छें!

हिन्दी अनुवाद—

(पुनः) कामासक्तप्राणी जिनवचन सुनने पर भी जो आरम्भ-परिग्रह में ही रहते हैं, अहो ! यह महामोह की ही महानता है ।

गाहा—

ताऽलं मम रज्जेणं संसार-निवास-हेउ-भूएण ।

जाणिय-जिणिंद-वयणस्स हंदि! गुरु-दुक्ख-मूलेण ॥५५॥

संस्कृत छाया—

तस्मादलं मे राज्येन संसारनिवास-हेतुभूतेन ।

ज्ञात-जिनेन्द्रवचनस्य हन्दि! गुरुदुःखमूलेन ॥५५॥

गुजराती अर्थ—

माटे जिनेन्द्रना वचनने जाणेल खा माटे संसारनिवासना कारणभूत खारे दुःखना मूळ (कारणरूप) राज्यथी सर्यु !

हिन्दी अनुवाद—

अतः जिनवचन को जाननेवाले मुझे संसार-निवास के हेतुभूत, अति दुःख के मूल कारणरूप राज्य से क्या (लाभ)?

गाहा—

ता सावज्जं वज्जिय पव्वज्जा-उज्जमं करेमि लहुं ।

किं मह इमिणा दुग्गइ-निबंधणासार-रज्जेण? ॥५६॥

संस्कृत छाया—

तस्मात् सावद्यं वर्जयित्वा प्रव्रज्योद्यमं करोमि लघु ।

किं मेऽनेन दुर्गतिनिबन्धनाऽसार-राज्येन? ॥५६॥

गुजराती अर्थ—

तेथी हुं पापकर्मनो त्याग करीने जल्दीथी प्रव्रज्याने ग्रहण करवा माटे, उद्यम करुं, हवे माटे दुर्गतिना कारणरूप असार खा आ राज्य वडे शुं?

हिन्दी अनुवाद—

अतः पापकर्म का त्याग करके शीघ्र ही प्रब्रज्या प्राप्ति के लिए मैं उद्यम करूँ क्योंकि, दुर्गति के हेतुभूत असार राज्य से मुझे क्या ?

गाहा—

अन्नं च मज्झ वंसे रज्जं दाऊण नियय-पुत्ताण ।

बहवे कय-सामन्ना रायाणो पाविया सुगइं ॥५७॥

संस्कृत छाया—

अन्यच्च मम वंशे राज्यं दत्त्वा निजकपुत्रेभ्यः ।

बहवः कृतश्रामण्या राजानः प्राप्ताः सुगतिम् ॥५७॥

गुजराती अर्थ—

अने वळी माया वंशमां पोताना पुत्रोने राज्य आपीने स्वीकारेला श्रामण्यवाळा घणा राजाओ सदगतिने पाव्या छे.

हिन्दी अनुवाद—

और फिर मेरे वंश में अपने पुत्रों को राज्य देकर साधु जीवन को स्वीकार करके अनेक राजाओं ने सदगति की प्राप्ति की है !

गाहा—

तव्वंस-पसूएणं मएवि कायव्वयं (कायव्वं?) इमं तम्हा ।

इय चिन्तिऊण राया संसइ संनिहिय-खयरानं ॥५८॥

संस्कृत छाया—

तद्वंश-प्रसूतेन मयाऽपि कर्तव्यमिदं तस्माद् ।

इति चिन्तयित्वा राजा शंसति सन्निहित-खेचरेभ्यः ॥५८॥

गुजराती अर्थ—

तेथी ते वंशमां उत्पन्न थयेला माया वडे पण आमज करवा योग्य छे स प्रमाणे विचारोने पासे रहेला विद्याधरोने राजास कहुं.

हिन्दी अनुवाद—

अतः उसी वंश में उत्पन्न हुए मुझे भी यही करना चाहिए। इस प्रकार सोचकर करीब रहे हुए विद्याधरों से राजा ने कहा—

सुधोष चारण श्रमण

गाहा—

एत्थंतरे सुधोसो चउ-नाणी चारणो मुणी तत्थ ।
विहरंतो संपत्तो भवियाण विबोहणट्ठाए ॥५९॥

संस्कृत छाया—

अत्रान्तरे सुधोषश्चतुर्जानी चारणो मुनिस्तत्र ।
विहरन् सम्प्राप्तो भव्यानां विबोधनार्थाय ॥५९॥

गुजराती अर्थ—

स्टलीवारमां चाट (मति, श्रुत, अवधि अने मनःपर्यव) ज्ञान (ने धारण करणाट) वाळा सुधोष नामना चारणमुनि विहार करता भव्य जीवोनां बोध माटे त्यां पध्यायां.

हिन्दी अनुवाद—

उतने में चार (मति, श्रुत, अवधि और मनःपर्यव) ज्ञान वाले ज्ञानी सुधोष नाम के चारणमुनि (आकाशगामी विद्याधर) विहार करते हुए भव्य जीवों के बोध के निमित्त वहाँ पधारे ।

प्रभञ्जन प्रव्रज्या

गाहा—

राया पहंजणो अह सुयस्स जलणप्पहस्स अह-रज्जं (अह रज्जं?) ।

दाऊण तहा कणगप्पहस्स पन्नत्ति-वर-विज्जं ॥६०॥
तत्तो य विणिक्खंतो सुधोस-साहुस्स पाय-मूलम्मि ।
अवहाय राय-लच्छि पहंजणो खयर-रायत्ति ॥६१॥

संस्कृत छाया—

राजा प्रभञ्जनोऽथ सुताय ज्वलनप्रभाय अदो राज्यम् ।
दत्त्वा तथा कनकप्रभाय प्रज्ञप्ति-वरविद्याम् ॥६०॥
ततश्च विनिष्क्रान्तः सुधोष-साधोः पादमूले ।
अपहाय राज्य-लक्ष्मीं प्रभञ्जन खेचरराज इति ॥६१॥

गुजराती अर्थ—

राजा प्रभञ्जने ज्वलनप्रभ-पुत्रने आ राज्य आपीने तेमज कनकप्रभने प्रज्ञप्ति विद्या आपीने पछी राज्यलक्ष्मीने छोडीने (प्रभञ्जन खेचरेन्द्रे) सुधोषमुनिना चरणमां संयम जीवन स्वीकार्युं.

हिन्दी अनुवाद—

राजा प्रभंजन ने पुत्र ज्वलनप्रभ को यह राज्य देकर तथा पुत्र कनकप्रभ को प्रज्ञप्ति विद्या देकर उसके बाद (प्रभंजन खेचरेन्द्रने) राज्यलक्ष्मी को छोड़कर सुघोषमुनि के चरणों में संयम को स्वीकार किया ।

ज्वलनप्रभ राज्य सुख

गाहा—

जलणप्पहोवि भुंजइ राय-सिरिं खयर-नियर-परिकिन्नो ।
सयलोरोह-पहाणाइ चित्तलेहाइ समयंति ॥६२॥

संस्कृत छाया—

ज्वलनप्रभोऽपि भुनक्ति राजश्रियं खचरनिकरपरिकीर्णः ।
सकलावरोधप्रधानया चित्रलेखया समकमिति ॥६२॥

गुजराती अर्थ—

विद्याधर समूहथी परिवटेलो ज्वलनप्रभ पण अन्तःपुरनी चधी स्त्रीओमां प्रधान चित्रलेखानी साथे राज्यलक्ष्मीने भोगवे छे.

हिन्दी अनुवाद—

विद्याधर समूह से घिरा हुआ ज्वलनप्रभ भी अन्तःपुर की सभी रानियों में प्रधान चित्रलेखा के साथ राज्यलक्ष्मी का उपभोग करता है ।

कनकप्रभ ने विद्या तथा अविनय

गाहा—

कणगप्पहोवि साहिय विज्जं पन्नत्ति-नामियं विहिणा ।
विज्जा-पभाव-संजाय-गरुय-सामत्थ-वित्थारो ॥६३॥
उज्झिय निय-वंस-कमं अणविक्खिय अयस-पडहयं लोए ।
बहु मन्निय अविवेयं अवियारिय दोग्गइ-गमणं ॥६४॥
अणवेक्खिय गुरु-भावं अंगीकारुण तह अदक्खिन्नं ।
राय-सिरि-लोलुएणं विज्जा-बल-दप्प-भरिएण ॥६५॥
जलणप्पहस्स जिट्ठस्स भाउणो पिउ-विदिन्न-रज्ज-पयं ।
उद्दालियं तु कणगप्पहेण विज्जा-पभावाओ ॥६६॥

॥चतसृभिः कुलकम्॥

संस्कृत छाया—

कनकप्रभोऽपि साधयित्वा विद्यां प्रज्ञप्ति-नामिकां विधिना ।

विद्याप्रभावसञ्जातगुरुकसामर्थ्यविस्तारः ॥६३॥

उज्झित्वा निजवंशक्रममनवेक्ष्याऽयशःपटहकं लोके ।

बहु मत्वाऽविवेकमविचार्य दुर्गति-गमनम् ॥६४॥

अनपेक्ष्य गुरुभावमङ्गीकृत्य तथाऽदाक्षिण्यम् ।

राजश्रीलोलुपेन विद्याबलदर्पभृतेन ॥६५॥

ज्वलनप्रभस्य ज्येष्ठस्य भ्रातुः पितृ-वित्तीर्ण-राज्यपदम् ।

आच्छिन्न तु कनकप्रभेण विद्याप्रभावात् ॥६६॥ चतुर्भिः

कुलकम् ॥

गुजराती अर्थ—

(कनकप्रभ पण) विधीपूर्वक प्रज्ञप्ति नामनी विद्याने साधीने विद्याना प्रभावथी उत्पन्न थयेल मोटा सामर्थ्यना विस्तारवाळी थई पोतानी वंश परंपराने छोडीने लोकमां अपयशना पडहनी परवा कर्था वगर अविवेकने महत्त्व आपीने दुर्गतिना गमनने विचार्या वगर मोटानी अपेक्षा करीने अशिष्टतानो स्वीकार करीने राज्यलक्ष्मीमां लोलूप अने विद्याना बळना अभिमानथी भरेला कनकप्रभे, मोटाभाई ज्वलनप्रभने पिताए आपेल राज्यपदने विद्याना प्रभावथी छीनवी लीधुं.

हिन्दी अनुवाद—

(कनकप्रभ भी) विधिपूर्वक प्रज्ञप्ति विद्या को सिद्ध करके विद्या के प्रभाव से प्राप्त महान सामर्थ्य के विस्तारवाला, अपनी वंश परम्परा को छोड़कर, लोक में अपयश के नगाडे की परवाह किए बिना अविवेक को ही प्रधान माननेवाला बड़ों की उपेक्षा करके, दुर्गति गमन की भी चिंता नहीं करके, अदाक्षिण्य युक्त होकर राज्यलक्ष्मी का लालची और विद्याबल के घमंड से भरे कनकप्रभ ने पिता द्वारा अर्पित बड़े भाई ज्वलनप्रभ के राज्य को विद्या के प्रभाव से छीन लिया ।

गाहा—

ततो अहिद्रियं तं रज्जं सव्वंपि उग-तेएण ।

सामाङ्गणा सव्वो(वं?) वसीकओ(यं?) खयर-निउरंबो(बं?) ॥६७॥

संस्कृत छाया—

ततोऽधिष्ठितं राज्यं सर्वमप्युग्रतेजसा ।

सामादिना सर्वं वशीकृतं खचरनिकुरम्बम् ॥६७॥

गुजराती अर्थ—

त्याच पछी तेणे पोताना उग्र तेज वडे ते आखा राज्याने जमाव्युं अने शाम, दाम, भेद अने दंडनी नीति वडे सर्व विद्याधर समूहने वश कर्यो.

हिन्दी अनुवाद—

बाद में कनकप्रभ ने अपने उग्र तेज से संपूर्ण राज्य को स्थिर किया और शाम, दाम, भेद और दंड की नीति से सभी विद्याधर समूह को वश में किया।

गाहा—

नीसारिओ स-भूमीओ ताहि जलणप्यहो कणिट्टेण ।

नयरम्मि चमरचंचे समागओ ससुर-पासम्मि ॥६८॥

संस्कृत छाया—

निस्सारितः स्वभूमेस्तदा ज्वलनप्रभः कनिष्ठेन ।

नगरे चमरचञ्चवे समागतः श्वशुरपार्श्वे ॥६८॥

गुजराती अर्थ—

ज्याचे नाजा भाई कनकप्रभे ज्वलनप्रभनी तेनी पोतानी भूमिमांथी बहाट काढी नांख्यो त्याचे ते चमरचंचा नगरमां ससुरा पास आव्यो.

हिन्दी अनुवाद—

जब छोटे भाई ने बड़े भाई ज्वलनप्रभ को उसकी अपनी भूमि से निकाल दिया तब वह चमरचंचा नगर में ससुरजी के पास आया ।

गाहा—

बहु-माण-पुव्वयं सो पवेसिओ निय-पुरम्मि ससुरेण ।

भाणुगइ-राइणा अह समयं चिय चित्त-लेहाए ॥६९॥

संस्कृत छाया—

बहुमानपूर्वकं स प्रवेशितो निजपुरे श्वशुरेण ।

भानुगति-राजेनाथ समकमेव चित्रलेखया ॥६९॥

गुजराती अर्थ—

त्याचबाद ससुरा भानुगति राजाच चित्रलेखानी साथे (जमाई)नो पोताना नगरमां बहुमानपूर्वक प्रवेश कराव्यो.

हिन्दी अनुवाद—

फिर ससुर भानुगति राजा ने चित्रलेखा के साथ अपने नगर में उस (दामाद) को बहुमानपूर्वक प्रवेश कराया ।

गाहा—

अह परम-पमोएणं तहिं वसंतस्स ससुर-नयरम्मि ।
भो चित्तवेग! तस्स उ वोलीणा वासरा कइवि ॥७०॥

संस्कृत छाया—

अथ परमप्रमोदेन तत्र वसतः श्वशुरनगरे ।
भोः चित्रवेग! तस्य तु गता वासराः कत्यपि ॥७०॥

गुजराती अर्थ—

हे चित्रवेग ! हवे ससुराना ते नगरमां परम आनन्दपूर्वक रहेता तेना केटलांक दिवसो वित्या.

हिन्दी अनुवाद—

हे चित्रवेग ! ससुर के नगर में परम आनन्दपूर्वक रहते हुए उसके कई दिन बीत गये ।

गाहा—

अह अन्नया कयाइवि जलणपहो सालएण संजुत्तो ।
चित्तगइ-नामएणं नीहरिओ ताओ नयराओ ॥७१॥

संस्कृत छाया—

अथान्यदा कदाचिदपि ज्वलनप्रभः श्यालकेन संयुक्तः ।
चित्रगति-नामकेन निःसृतस्तस्मान्नगरात् ॥७१॥

गुजराती अर्थ—

हवे एक वखत क्यारेक चित्रगति नामना पोताना साळानी साथे ज्वलनप्रभ ते नगरनी बहार गयो.

हिन्दी अनुवाद—

फिर एकबार चित्रगति नाम के अपने साले के साथ ज्वलनप्रभ उस नगर से बाहर निकला ।

गाहा—

पेच्छंतो बहुविह-उववणाइं रमणीय-तरु-सणाहाइं ।
भारंड-चक्क-मंडिय-पसन्न-जल-दीहिया-निवहं ॥७२॥
पसरिय-सिय-भासाइं पेच्छंतो गिरि-वरस्स सिहराइं ।
किन्नर-मिहुण-सुसंगय-कयली-हर-विहिय-सोहम्मि ॥७३॥

अइ-कल-कूइय-कलयंठि-लडु-कोलाहलाभिरमणीए ।
 परिभमिर-भमर-निउरंब-गरुय-झंकार-महरम्मि ॥७४
 एगम्मि वण-निगुंजे फल-भर-विणमंत-दुम-सयाइन्ने ।
 पत्तो स कोउगेणं समयं चिय चित्तगइणा उ ॥७५॥

॥चतसृभिः कुलकम्॥

संस्कृत छाया-

प्रेक्षमाणो बहुविधोपवनानि रमणीय-तरु-सनाथानि ।
 भारण्डचक्रमण्डित-प्रसन्न-जल-दीर्घिका-निवहम् ॥७२॥
 प्रसृतसितभासानि प्रेक्षमाणो गिरिवरस्य शिखराणि ।
 किन्नर-मिथुन-सुसङ्गत-कदलीगृहविहितशोभे ॥७३॥
 अतिकल-कूजित-कलकण्ठलट्ट-कोलाहलाभिरमणीये ।
 परिभ्रमणशील-भ्रमर-निकुरम्बगुरुकङ्कहार-मधुरे ॥७४॥
 एकस्मिन् वन-निकुञ्जे फलभर-विनमत्-द्रुमशताकीर्णे ।
 प्राप्तः स कौतुकेन समकमेव चित्रगतिना तु ॥७५॥

॥चतुर्भिः कुलकम्॥

गुजराती अर्थ-

भारंड अने चक्रवाक पक्षीओथी शोभित प्रसन्न पाणीनी वावडीओना समूहने तथा मनोहर वृक्षोथी युक्त अनेक प्रकारना उपवनोने जोतो. विस्तृत श्वेत चमकता ऊँचा पर्वतोना शिखरोने जोतो, किन्नरोना युगलथी सुसंगत कदली घरथी शोभायमान, अति मनोहर टहुका करती कोयलना श्रेष्ठ अवाजथी मनोहर, भ्रमतां भ्रमराओना विशाळ गुंजारवथी मधुर, तथा बहु फळना भारथी नमेला सेंकडो वृक्षोथी व्याप्त एक वन निकुंज (गाढ झाडी)मां कौतुकथी चित्रगतिनी साथे ते पहाँच्यो.

हिन्दी अनुवाद-

भारंड एवं चक्रवाक पक्षियों से सुशोभित प्रसन्न जलवावडी के समूह को तथा मनोहर वृक्षों से युक्त नानाविध उपवनों को देखता हुआ विस्तृत श्वेत चमकने वाले ऊँचे पर्वतों के शिखरों को देखते हुए किन्नर युगल से सुसंगत कदलीगृह से सुशोभित, अतिमधुर कूजन करती सुंदर कोयल की श्रेष्ठ ध्वनि से सुन्दर, मडराते हुए भौरों के विशाल समूह के बड़े गुंजारव से मधुर तथा बहुत फल के भार से नम्र सैकड़ों वृक्षों से व्याप्त एक वन निकुंज में कुतूहलपूर्वक ज्वलनप्रभ चित्रगति के साथ गया ।

गाहा—

वायंत-मउय-मारुय-हल्लंत-सुपल्लवोह-सोहिल्लं ।
पेच्छइ रत्तासोयं महुरि-गण-विहिय-हलबोलं ॥७६॥

संस्कृत छाया—

वाद-मृदुकमारुतहल्लत्-सुपल्लवौघ-शोभावन्तम् ।
प्रेक्षते रक्ताशोकं मधुकरिगणविहित-हलबोलम्
(कलकलम्) ॥७६॥

गुजराती अर्थ—

मंद मंद वहेता पवन वडे हालता सुंदर पांढडाओना समूहथी सुशोभित
भमरीओना समूहथी वाचालित थयेल लाल अशोकवृक्षने जेयुं.

हिन्दी अनुवाद—

मंद मंद संचरित पवन द्वारा हिलते पल्लवों के समूह से, सुंदर भौरों के
समूह से मुखरित लाल अशोकवृक्ष को देखा ।

गाहा—

तस्स य अहे निविट्ठो कंचण-पउमम्मि मुणि-वरो दिट्ठो ।
विज्जाहर-नर-किन्नर-सुर-विसरेणं नमिज्जंतो ॥७७॥

संस्कृत छाया—

तस्य चाधो निविष्टः कञ्चनपद्मे मुनिवरो दष्टः ।
विद्याधर-नर-किन्नर-सुर-विसरेण नम्यमानः ॥७७॥

गुजराती अर्थ—

ते अशोकवृक्षनी नीचे विद्याधर्ये, मनुष्यो, गंधर्वो, देवताओ तेमज
असुरेना समूहथी प्रणाम करता सुवर्ण कमल पर बेटेला मुनिवरने जेया.

हिन्दी अनुवाद—

उस अशोकवृक्ष के नीचे विद्याधरों, मनुष्यों, किन्नरों, देवों और असुरों के
समूह से पूजित सुवर्णकमल पर बैठे हुए मुनिवर दिखे।

गाहा—

उप्पन्न-विमल-केवल-नाणो अह सुर-वरेहिं शुव्वंतो ।
आसन्ने उण जलणाय्यहेण सो पच्चभिन्नाओ ॥७८॥

संस्कृत छाया—

उत्पन्नविमलकेवलज्ञानोऽथ सुरवरैः स्तूयमानः ।

आसन्ने पुनर्ज्वलनप्रभेण सः प्रत्यभिज्ञातः ॥७८॥

गुजराती अर्थ—

उत्पन्न थयेला निर्मळ केवलज्ञानवाळा अने श्रेष्ठ देवो वडे स्तुति कयाता मुनिनी नजीकमां जतां ज ज्वलनप्रभे ते मुनिने ओळख्या.

हिन्दी अनुवाद—

उत्पन्न हुए निर्मल केवलज्ञान वाले तथा उत्तम देवों द्वारा स्तुति किये जाते हुए मुनि के पास जाते ही ज्वलनप्रभ ने मुनि को पहचाना ।

गाहा—

सो एसो मज्झ पिया पहंजणो नाम मुणि-वरो, एवं ।

सिद्धम्मि चित्तगइणो ततो ते दोवि हरिसेण ॥७९॥

ति पइक्खिणुणुं सम्मं हरिस-वसुद्धंत-बहल-रोमांचा ।

पणमिय-केवलि-चलणा विणिविद्धा धरणि-वद्धम्मि ॥८०॥

॥युगम्॥

संस्कृत छाया—

स एष मे पिता प्रभञ्जनो नाम मुनिवर एवम् ।

शिष्टे चित्रगतये ततस्तौ द्वावपि हर्षेण ॥७९॥

त्रिःप्रदक्षिणीकृत्य सम्यग्-हर्षवशोत्तिष्ठद्बहल-रोमाञ्चौ ।

प्रणत केवलिचरणौ विनिविष्टौ धरणीपृष्ठे ॥८०॥ ॥युगम्॥

गुजराती अर्थ

ते आ माटा पिता प्रभंजन मुनिवर छे आ प्रमाणे ज्वलनप्रभे ज्यारे चित्र गतिने कह्णुं त्यारे हर्ष सहित त्रण प्रदक्षिणा आपीने साची चीते हर्षविशथी ऊभा थयेला रोमांचवाळा ते बह्ले, केवळी भगवंतना चरणकमळमां नमस्कार कचीने पृथ्वीतल पर चेटा.

हिन्दी अनुवाद—

ये मेरे पिता प्रभंजन मुनिवर हैं। इस प्रकार ज्वलनप्रभ के चित्रगति से कहने पर हर्षसहित तीन बार प्रदक्षिणा कर के हर्षवेश से रोमांचित वे दोनों केवली भगवंत के चरण में नमस्कार कर के पृथ्वीतल पर बैठे ।

गाहा—

निज्जिय-सनीर-जीमूय-घोस-गंभीर-भारईए तओ ।
तीइ परिसाइ भयवं पारब्धो देसणं काउं ॥८१॥

संस्कृत छाया—

निर्जित-सनीर-जीमूतघोषगम्भीरभारत्या ततः ।
तस्यां पर्षदि भगवान् प्रारब्धो देशनां कर्तुम् ॥८१॥

गुजराती अर्थ—

पाणीथी भरेला मेघनी गर्जनाने पराजित करेली गंभीर वाणी वडे ते सभामां केवली भगवाने उपदेश आपवानी शरूआत करी.

हिन्दी अनुवाद—

पानी से भरे मेघ की गर्जना को भी पराजित करती हुई अपनी गंभीर वाणी द्वारा उस सभा में केवली भगवान ने उपदेश देना प्रारंभ किया।

गाहा—

अवि य गय-कलह-कन्न-चवला लच्छी मणुयाणमाउयमणिच्चं ।
जोव्वणमवि मणुयाणं सहसत्ति जरा अभिद्वइ ॥८२॥
रोग-सय-पीडियं तंपि जोव्वणं जाइ जीव-लोगम्मि ।
इट्टु-वियोगा-ऽणिट्टु-प्पओग-दुक्खेहिं केसिंचि ॥८३॥ युग्मम् ॥

संस्कृत छाया—

अपि च गजकलभकर्णचपला लक्ष्मीर्मनुजानामायुष्यकमनित्यम् ।
यौवनमपि मनुजानां सहसेति जराऽभिद्रवति ॥८२॥
रोगशत-पीडितं तदपि यौवनं याति जीवलोके ।
इष्टवियोगानिष्टप्रयोगदुःखैः केषाञ्चित् ॥८३॥ युग्मम् ॥

गुजराती अर्थ—

लक्ष्मी हाथीना बच्चाना कान जेवी चंचळ છે. મનુષ્યોનું આયુષ્ય અનિત્ય છે. તથા મનુષ્યના યૌવનને પણ ઘડપણ અચાનક નષ્ટ કરે છે. વઠ્ઠી કેટલાકનું તે યૌવન પણ પ્રાણીલોકમાં ઇષ્ટનો વિયોગ અને અનિષ્ટના સંયોગરૂપ દુઃસ્વોના કારણે સ્વેંકડો રોગોથી પીડિત થાય છે.

हिन्दी अनुवाद—

लक्ष्मी हाथी के बच्चे के कान की तरह चंचल है। मनुष्यों की आयु अनित्य है तथा जवानी को बुढ़ापा अचानक ही ढीला करती है और प्राणिलोक में कुछ लोगों की यह जवानी इष्ट वियोग और अनिष्ट संयोगरूप दुःखों के कारण सैकड़ों रोगों से पीड़ित होती है।

गाथा—

अइपरिमियम्मि चवले रोग-जरा-सोग-वाहि-पउरम्मि ।

जीवाण जोव्वणे एरिसम्मि को नाम पडिबंधो? ॥८४॥

संस्कृत छाया—

अतिपरिमिते चपले रोग-जरा-शोक-व्याधि-प्रचुरे ।

जीवानां यौवने ईदृशे को नाम प्रतिबन्धः? ॥८४॥

गुजराती अर्थ—

रोग, घडपण, शोक अने व्याधिथी सभए एवा नानकडाने चंचळ यौवनमां जीवोने केवो राग ?

हिन्दी अनुवाद—

रोग, बुढ़ापा, शोक और व्याधि से भरपूर जीवों को ऐसे छोटे और चंचल यौवन में कैसा प्रेम ?

गाथा—

विसया कुगइ-निमित्तं उवभुत्ता तुच्छगा तहा तेवि ।

विरसा सइ अवसाणे, तेसु तओ को व पडिबंधो? ॥८५॥

संस्कृत छाया—

विषयाः कुगतिनिमित्तमुपभुक्तास्तुच्छकास्तथा तेऽपि ।

विरसाः सदाऽवसाने तेषु ततः को वा प्रतिबन्धः ? ॥८५॥

गुजराती अर्थ—

विषयो दुर्गति माटे उपभोग कइया, ते विषयो पण तुच्छ छे, ते विषयो परिणामे स्वादहीन छे, तो पछी ते विषयो प्रत्ये राग केवो ?

हिन्दी अनुवाद—

विषय जो दुर्गति के लिए उपभोग किए गए, वे विषय भी तुच्छ हैं। वे विषय परिणाम में (अंत में) स्वादहीन हैं, तो फिर ऐसे विषयों के प्रति राग कैसा ?

गाहा—

इय संसारे सारं जं किर पडिहासए विवज्जासा ।

तंपि हु दुह-सय-हेउत्ति जाणितं कुणह जिण-धम्मं ॥८६॥

संस्कृत छाया—

इति संसारे सारं यत्किल प्रतिभासते विपर्यासात् ।

तदपि खलु दुःखशत-हेतुरिति ज्ञात्वा कुरुत जिनधर्मम् ॥८६॥

गुजराती अर्थ—

आ प्रमाणे विपरीत बुद्धिने कारणे जे कांई सार्थक देखाय छे ते पण सेंकडो दुःखोनुं कारण छे रूम जाणीने जिनधर्मनुं पालन करवुं.

हिन्दी अनुवाद—

इस मुताबिक विपरीत बुद्धि के कारण जो कुछ भी सार्थक दिखता है वह भी सैकड़ों दुःखों का कारण है। ऐसा जान कर जिनधर्म का पालन करें ।

गाहा—

जं दुलहा सामग्गी एसा तुब्भेहिं भव-समुद्दम्मि ।

पत्ता अपत्त-पुव्वा ता मा तां निष्फलं नेह ॥८७॥

संस्कृत छाया—

यद् दुर्लभा सामग्री एषा युष्माभिर्भवसमुद्रे ।

प्राप्ताऽप्राप्तपूर्वा तस्माद् मा तां निष्फलं नयत ॥८७॥

गुजराती अर्थ—

श्वसमुद्र मां पहेला क्यारे पण नही मेळवेली दुर्लभ सामग्री तमारा वडे प्राप्त कराई छे तेथी तेने निष्फल ना करो!

हिन्दी अनुवाद—

भवसमुद्र में पहले कभी भी नहीं प्राप्त की है ऐसी दुर्लभ सामग्री को प्राप्त की है; तुम उसे निष्फल मत बनाओ।

गाहा—

एसा हु पुणो दुलहा जाई लक्खोह-संकुल-भवम्मि ।

हिंडंताणं ताणं न य अन्नं जिण-मयं मोत्तुं ॥८८॥

संस्कृत छाया—

एषा खलु पुनर्दुर्लभा जातिर्लक्षौघ-सङ्कुलभवे ।

हिण्डमानानां त्राणं न चान्यद् जिनमतं मुक्तवा ॥८८॥

गुजराती अर्थ—

आ जन्म फरी मळवो दुर्लभ छे. लाखो जीवोथी व्याप्त आ संसारमां फरता (रखडतां) तेमने जिनेश्वर भगवानना मतने छोडीने चीजुं कांई रक्षण नथी.

हिन्दी अनुवाद—

यह मनुष्य जन्म फिर से मिलना दुर्लभ है । लाखों जीवों से व्याप्त इस संसार में घूमते हुए जीवों को जिनशासन के अलावा और कोई रक्षण नहीं है।

गाहा—

तम्हा जिणोहिं भणियं दिक्खं घेत्तूण संजमं काउं ।

उज्झिय तो संसारं पावह सिद्धीए पवर-सुहं ॥८९॥

संस्कृत छाया—

तस्माज्जिनैर्भणितां दीक्षां गृहीत्वा संयमं कृत्वा ।

उज्झित्वा ततः संसारं प्राप्नुत सिद्धेः प्रवरसुखम् ॥८९॥

गुजराती अर्थ—

आथी संसार ने छोडी ने जिनेश्वर भगवंते कहेल दीक्षा ने ग्रहण करी ने संयम नु पालन करीने सिद्धि ना श्रेष्ठ सुख ने पावो!

हिन्दी अनुवाद—

अतः संसार को छोड़कर जिनेश्वर भगवंत द्वारा कथित दीक्षा को स्वीकार कर संयम का पालन कर के सिद्धि के सुख को प्राप्त करो।

गाहा—

एवं मुणिणा धम्ममि साहिए केवि तत्थ पव्वइया ।

जाया उवासया तह अन्ने सम्मं पवन्नत्ति ॥९०॥

संस्कृत छाया—

एवं मुनिना धर्मे कथिते केऽपि तत्र प्रव्रजिताः ।

जाता उपासकास्तथाऽन्ये सम्यक्त्वं प्रपन्ना इति ॥९०॥

गुजराती अर्थ—

आ प्रमाणे मुनि भगवंते (देशना) उपदेश आप्ये छते केटलाकोरु त्यां संयम ग्रहण कर्युं अने केटलाक श्रावक थया । तथा बीजा केटलाकोरु सम्यक्त्वने स्वीकार्युं.

हिन्दी अनुवाद—

इस प्रकार मुनि भगवंत के उपदेश देने पर कई जनों ने संयम ग्रहण किया। कितने ही लोग श्रावक बनें, और कितने ही लोगों ने सम्यक्त्व को ग्रहण किया।

गाहा—

एत्थंतरम्मि पणमिय जलणपहो विन्नवेइ निय-पियरं ।

भयवं! पुणरवि रज्जं किं तं मह होज्ज नो अहवा? ॥९१॥

संस्कृत छाया—

अत्रान्तरे प्रणम्य ज्वलनप्रभो विज्ञापयति निजपितरम् ।

भगवन्! पुनरपि राज्यं किं तद् मे भवेद् नोऽथवा? ॥९१॥

गुजराती अर्थ—

सटलीवार मां ज्वलनप्रभ पोताना पिताने नमस्कार कटी ने पूछे छे, हे भगवन्! वळी पण ते मांरु राज्य मने मळशे के नही?

हिन्दी अनुवाद—

इतनी देर में ज्वलनप्रभ ने अपने पिता को नमस्कार करके पूछा— हे भगवन्! मुझे मेरा राज्य पुनः मिलेगा या नहीं ?

गाहा—

अह केवलिणा भणियं होही, तं कइय, पुच्छियमणेण ।

तो भणइ मुणि-वरिंदो केवल-विज्ञाय-परमत्थो ॥९२॥

संस्कृत छाया—

अथ केवललिना भणितं भविष्यति, तत् कदा, पृष्टमनेन ।

ततो भणति मुनिवरेन्द्रः केवल-विज्ञात-परमार्थः ॥९२॥

गुजराती अर्थ—

ज्वलनप्रभ थी पूछायेला केवली भगवंते कहयुं, 'राज्य मळशे', त्यारे तेणे पूछ्यु, 'क्यारे मळशे?' आथी केवलज्ञान वडे जाणेला परमार्थवाळा मुनिवरेन्द्र कहे छे।

हिन्दी अनुवाद—

ज्वलनप्रभ द्वारा पूछने पर केवली भगवंत ने कहा— 'तुझे राज्य मिलेगा, भ्वापिस पूछा— कब मिलेगा? अतः केवलज्ञान के द्वारा ज्ञात परमार्थवाले मुनि कहते हैं।

गाहा—

भाणुगइ-दिन्न-रोहिणि-विज्जाए साहियाए ते भद्र! ।

होही पुणरवि खयराहिवत्तणं नत्थि संदेहो ॥१३॥

संस्कृत छाया—

श्रमण नो उत्तर

भानुगति-दत्त-रोहिणीविद्यायां सधितायां ते भद्र!।

भविष्यति पुनरपि खचराधिपतित्वम् नास्ति सन्देहः ॥१३॥

गुजराती अर्थ—

'हे भद्र! भानुगतिय आपेल रोहिणीविद्या ने साधवाथी फटि पण तासुं खेचरेधरत्त्व थरो समां कोई ज सन्देह नथी।'

हिन्दी अनुवाद—

हे भद्र! भानुगति द्वारा अर्पित की गई रोहिणी विद्या को सिद्ध करके पुनः तुम खेचरेश्वर बनेगा यह बात निःसन्देह है!

गाहा—

एवं मुणिणा भणिए पहसिय-वयणेहिं वंदिओ भयवं ।

एत्थंतरम्मि परिसा जहागयं पडिगया सव्वा ॥१४॥

संस्कृत छाया—

एवं मुनिना भणिते प्रहसितवदनाभ्यां वन्दितो भगवान् ।

अत्रान्तरे परिषद् यथागतं प्रतिगता सर्वा ॥१४॥

गुजराती अर्थ—

आ प्रमाणे मुनिस कहे छते प्रसन्न मुखवाळा ते चे जणे मुनि भगवंतने वन्दन कर्या. सटलीवार मां संपूर्ण सभा जेम आवी तेम पाछी गयी!

हिन्दी अनुवाद—

इस प्रकार मुनि के कहने पर हर्षित मुखवाले होकर दोनों ने वन्दन किया, इतनी देर में संपूर्ण सभा जैसी आई वैसी बिखर गई!

गाहा—

तत्तो ते दोवि जणा समागया झत्ति नियय-नयरम्मि ।
चित्तगइणा य कहियं केवलि-वयणं तु निय-पिउणो ॥१५॥

संस्कृत छाया—

ततस्तौ द्वावपि जनौ समागतौ झटिति निजनगरे ।
चित्रगतिना च कथितं केवलिवचनं तु निजपितुः ॥१५॥

गुजराती अर्थ—

त्याए पछी ते चह्ने पण जल्दी थी पोताना नगर मां आव्या, अने चित्रगति
ए पोताना पिता ने केवलीभगवंत ना वचन कह्या।

हिन्दी अनुवाद—

बाद में दोनों ही शीघ्रता से अपने नगर में आए और चित्रगति ने अपने
पिता को केवली भगवंत के वचन कह सुनाए।

गाहा—

तत्तो य भाणुगइणा सोहण-रिक्खम्मि रोहिणी विज्जा ।
जामाउय-तणयाणं दोण्हवि समयं विदिन्नत्ति ॥१६॥

संस्कृत छाया—

ततश्च भानुगतिना शोभनक्षेत्रं रोहिणीविद्या ।
जामातृतनयाभ्यां द्वाभ्यामपि समकं वितीर्णोति ॥१६॥

गुजराती अर्थ—

हवे भानुगीतर शुभनक्षत्र मां रोहिणीविद्या जमाई सहित पुत्र ने आपी।

हिन्दी अनुवाद—

अब भानुगति ने शुभ नक्षत्र में रोहिणी विद्या जमाई के साथ पुत्र को दी।

गाहा—

भणिया य पुव्व-सेवं कर-जाव-विहाणओ कुणह सम्मं ।
वसिमम्मि ठिया समयं छम्मासं जाव तो पच्छा ॥१७॥

संस्कृत छाया—

भणितौ च पूर्वसेवां करजाप-विधानतः कुरुतं सम्यक्
वसतौ स्थितौ समकं षण्मासं यावत् ततः पश्चात् ॥१७॥

गुजराती अर्थ—

अने कहयुं करजाप ना विधान प्रमाणे पूर्वसेवा ने साठी चीते कएो.
मे एकसाथे छ महिना सुधी लोकमां र्हो त्याए पछी।

हिन्दी अनुवाद—

और कहा— करजाप के विधान से पूर्वसेवा को अच्छी तरह से करो। इस प्रकार छः महीने तक लोक में रहकर करना, उसके बाद—

गाहा—

उत्तर-सेवा उग्गा कायव्वा एगगेहिं अडवीए ।

बीएण पुणो उत्तर-साहग-रूवेण होयव्वं ॥१८॥

संस्कृत छाया—

उत्तरसेवोग्रा कर्तव्या एकैकाभ्याम टव्याम् ।

द्वितीयेन पुनरुत्तरसाधकरूपेण भवितव्यम् ॥१८॥

गुजराती अर्थ—

एक-एक वडे अटवी मां उग्र खवी उत्तर सेवा कएवी जोइए. अने
बीजा वडे वळी उत्तरसाधक थई ने रहेवु!

हिन्दी अनुवाद—

एक के द्वारा एक की जंगल में उग्र उत्तर सेवा करनी चाहिए और पुनः
दूसरे को उत्तरसाधक होकर रहना चाहिए।

गाहा—

अन्नं च भीषणासुवि विभीषियासुं मणं न दायव्वं ।

पुत्रे सत्तम-मासे देस्सइ अह दंसणं विज्जा ॥१९॥

संस्कृत छाया—

अन्यच्च, भीषणास्वपि विभीषिकासु मनो न दातव्यम् ।

पूर्णे सप्तममासे दास्यत्यथ दर्शनं विद्या ॥१९॥

गुजराती अर्थ—

अने वळी

भीषण तेमज श्रयंकट उपसर्ग आवे तो पण मन.स्थिर राखवु आ
प्रमाणे करवाथी सात मास पूर्ण थये विद्या दर्शन आपरो!

हिन्दी अनुवाद—

भीषण और भयंकर उपसर्ग आने पर भी मन को स्थिर करना इस प्रकार सात मास पूर्ण होने पर विद्या आपको दर्शन देगी।

गाहा—

एवं रत्ना भणिया दोन्नवि पणमित्तु तस्स पय-कमलं ।

पारब्धा तं काउं छम्मासा जाव पुन्नत्ति ॥१००॥

संस्कृत छाया—

एवं राज्ञा भणितौ द्वावपि प्रणम्य तस्य पदकमलम् ।

प्रारब्धौ तत्कर्तुं षण्मासा यावत् पूर्णा इति ॥१००॥

गुजराती अर्थ—

आ प्रमाणे राजा वडे कहेवायेला बबे स पण राजा ना चरण मां नमस्कार करी ने करवाभाटे प्रारंभ कर्यो। तेवामां छ मास पूर्णथिया।

हिन्दी अनुवाद—

इस प्रकार राजा के कहने पर दोनों ने राजा के चरण में प्रणाम करके जाप की विधि का प्रारंभ किया! इतने में छः मास पूर्ण हुए।

गाहा—

अह सत्तमम्मि मासे गंतुं अडवीए तव्विही सव्वो ।

जलणप्पहेण पुव्विं पारब्धो जाव-होमाई ॥१०१॥

संस्कृत छाया—

अथ सप्तमे मासे गत्वाऽटव्यां तद्विधिः सर्वः ।

ज्वलनप्रभेण पूर्वं प्रारब्धो जाप-होमादिः ॥१०१॥

गुजराती अर्थ—

हवे सात मा महिने जंगल मां जई ने ते सर्व जाप होमादिनी विधि ज्वलनप्रभे प्रारंभ कर्यो!

हिन्दी अनुवाद—

बाद में सातवें माह में जंगल में जाकर जाप होमादि सम्पूर्ण विधि का ज्वलनप्रभ ने प्रारंभ किया।

गाहा—

वसुनंदय-खग्ग-करो चित्तगई तस्स रक्खओ जाओ ।

सोवि हु अणन्न-चित्तो पारब्धो तं विहिं काउं ॥१०२॥

संस्कृत छाया—

वसुनन्दक-खड्गकरः चित्रगतिस्तस्य रक्षको जातः ।

सोऽपि खल्वनन्यचित्तः प्रारब्धः तं विधिं कर्तुम् ॥१०२॥

गुजराती अर्थ—

वसुनन्दक नाम नी तलवार ने ग्रहण कयी ने चित्रगति तेनी रक्षक थयो अने ते पण एक मन थी ते विधि ने करवा माटे तैयार थयो ।

हिन्दी अनुवाद—

वसुन्दक नाम के खड्ग लेकर चित्रगति ज्वलनप्रभ का अंगरक्षक बना, और ज्वलनप्रभ ने भी एकाग्रता से विधि का प्रारंभ किया!

गाहा—

अन्न-दिवसम्मि तुरियं आगच्छंती पकंपमाण-तणू ।

दिट्ठा उ चित्तलेहा भय-भीया तम्मि ठाणम्मि ॥१०३॥

संस्कृत छाया—

भयभीत चित्रलेखा

अन्यदिवसे त्वरितमागच्छन्ती प्रकम्पमानतनुः ।

दृष्टा तु चित्रलेखा भयभीता तस्मिन् स्थाने ॥१०३॥

गुजराती अर्थ—

हवे चीजा दिवसे जल्दी थी आवती कम्पती, उटेली चित्रलेखा ते स्थाने आवेली देखाइ।

हिन्दी अनुवाद—

अब एक दिन जल्दी से भागती, काँपती, भयभीत चित्रलेखा को उस स्थान में आयी हुई देखी!

गाहा—

तं दट्ठुं निय-भगिणिं चित्तगई भणइ कथ्य तं भदे ।

आया सुभीसणाए एक्कल्ला एत्थ अडवीए? ॥१०४॥

संस्कृत छाया—

चित्रगति नो विचारः

तां दृष्ट्वा निजभगिनीं चित्रगतिर्भणति कुत्र त्वं भद्रे!

आयाता सुभीषणायामेकाकीन्यत्राटव्याम् ॥१०४॥

गुजराती अर्थ—

ते पोतानी चहेन ने जोइ ने चित्रगति कहे छे हे भद्रे! तुं अहीं आ
आतिभयंकट जंगल मां एकली केवी चीते आवी?

हिन्दी अनुवाद—

अपनी बहन चित्रलेखा को देखकर चित्रगति कहता है, हे भद्रे! तूँ यहाँ
इस भीषण जंगल में अकेली कैसे आ गयी?

गाहा—

कस्स व भएण गाढं कंपसि तं भगिणि! ताहि सा भणइ ।

नथराउ निग्गया हं परियरिया दास-चेडीहिं ॥१०५॥

संस्कृत छाया—

कस्य वा भयेन गाढं कम्पसे त्वं भगिनि! तदा सा भणति ।

नगरान्निर्गताऽहं परिवृता दासचेटीभिः ॥१०५॥

गुजराती अर्थ—

अथवा हे चहेन! कोना भय वडे तुं आटली कम्पे छे? त्याटे तेणीए
कहयुं दासदासीओ थी पट्टिवरेली हूँ नगर थी निकली।

हिन्दी अनुवाद—

अथवा हे बहन! किसके भय से तूँ इतनी काँपती है? तब उसने कहा—
'कि दासदासी के परिवार से परिवृत्त मैं नगर के बाहर निकली।

गाहा—

पत्ता उज्जाणम्मी तत्थ मए पूइओ कुसुमबाणो ।

निय-गिहमागच्छंती विमोहिया झत्ति केणावि ॥१०६॥

संस्कृत छाया—

प्राप्तोद्याने तत्र मया पूजितः कुसुमबाणः ।

निजगृहमागच्छन्ती विमोहिता झटिति केनाऽपि ॥१०६॥

गुजराती अर्थ—

(अने नगर बहार) उद्यान मां जइ माटा वडे कुसुमबाण नी पूजा कराई.
पछी पोताना घटे आवता कोईना वडे हूँ जल्दी थी मोहित कराई!

हिन्दी अनुवाद—

(और बहार के) उद्यान में मैं पहुंची जहां कुसुमबाण की पूजा की। पश्चात्
घर लौटते समय किसी के द्वारा मोहित की गई।

गाहा—

मोक्षुण परियणं तं पलायमाणी समागया एत्थ ।

अडवीए ताव मए दिट्ठो कणगप्पहो सहसा ॥१०७॥

संस्कृत छाया—

मुक्त्वा परिजनं तं पलायमाना समागताऽत्र ।

अटव्यां तावन्मया दृष्टः कनकप्रभः सहसा ॥१०७॥

गुजराती अर्थ—

ते परिजन ने मूक्री ने भागती अहीं जंगलमां आवी तेटलीवार मां
अचानक से कनकप्रभने जोयो!

हिन्दी अनुवाद—

अतः परिजन को छोड़कर भागती-भागती यहाँ जंगल में आई वहाँ अचानक
ही कनकप्रभ दिखाई दिया।

गाहा—

पावेण तेण भणियं इच्छ ममं ताहि गाढ-कुब्धाए ।

अक्कोसिओ स बहुधा निट्ठुर-वयणोहिं मे ताहे ॥१०८॥

संस्कृत छाया—

पापेन तेन भणितमिच्छ मां तदा गाढ-कुब्धया ।

आक्रोशितः स बहुधा निष्ठुरवचनेर्मया तदा ॥१०८॥

गुजराती अर्थ—

अतिक्रुद्ध थयेला ते पापी ए मने कह्युं तुं माटो स्वीकार कर, त्याटे
में तेना उपर घणाप्रकार ना निष्ठुरवचनो वडे भर्त्सना कयी !

हिन्दी अनुवाद—

अतिक्रोधित उस पापी ने मुझे कहा— तू मुझे स्वीकार कर। तब मैंने बहुत
सारे निष्ठुर वचनों द्वारा उसकी भर्त्सना की।

गाहा—

उग्गीरिऊण खग्गं भणिया हं तेण इच्छसु ममंति ।

अह नवि, तो ते सीसं छिंदामि इमेण खग्गेण ॥१०९॥

संस्कृत छाया—

उद्गीर्य खड्गं भणिताऽहं तेनेच्छ मामिति ।

अथ नहि ततस्ते शीर्षं छिनदिम्यनेन खड्गेन ॥१०९॥

गुजराती अर्थ—

त्याचे तलवार ने उगामी ने तेणे मने कहयुं मने ईच्छ! नहीं तो आ तलवार थी ज तारु मस्तक छेदी नांखीश ।

हिन्दी अनुवाद—

तब उसने तलवार निकाल कर मुझे कहा कि— तू मुझसे प्यार कर नहीं तो इसी तलवार से तेरा सिरच्छेद करूंगा।

गाहा—

एवं च तेण भणिया पलायमाणी भएण कंपंती ।

पत्ता तुम्ह समीवे रक्ख ममं ताओ पावाओ ॥११०॥

संस्कृत छाया—

एवञ्च तेन भणिता पलायमाना भयेन कम्पमाना ।

प्राप्ता तव समीपे रक्ष मां तस्मात् पापात् ॥११०॥

गुजराती अर्थ—

आ प्रमाणे कहेवायेली हूं ते भय वडे कंपती भागती. ताची पासे आवी छुं ते पापी थी माची रक्षा कर!

हिन्दी अनुवाद—

इस प्रकार कही गई मैं भय से काँपती, दौड़ती हुई तेरे पास आयी हूँ। तुम उस पापी से मेरी रक्षा करो।

गाहा—

एवं भणमाणिं तं सहसा आगम्य गिण्हउं हत्थे ।

उप्यइओ कणगपहो तमाल-दल-सामलं गयणं ॥१११॥

हा! रक्ख रक्ख भाउय! हा वल्लह! कुणसु मह परित्ततिं ।

एमाइ विलवमाणिं हीरंतिं ददु निय-भगिणिं ॥११२॥

निय-कुल-कलंक-कारय! कत्थ ममं जासि दिट्ठि-पह-पडिओ?।
 पुरिसो भव एस तुहं सीस-च्छेयं करेमिति ॥११३॥
 एमाइ वाहरंतो चित्तगई गहिय-निसिय-करवालो।
 अणुमग्गेणुप्पइओ भगिणीए विमोयणट्ठाए ॥११४॥

॥चतसृभिः कुलकम्॥

संस्कृत छाया-

चित्रलेखा नुं हरणः

एवं भणन्तीं तां सहसा आगम्य गृहीत्वा हस्ते।
 उत्पतितः कनकप्रभः तमालदल-श्यामलं गगनम् ॥१११॥
 हा! रक्ष रक्ष भ्रातः! हा वल्लभ! कुरु मे परित्रातिम्।
 एवमादि विलपन्तीं ह्वियमाणां दृष्ट्वा निजभगिनीम् ॥११२॥
 निजकुलकलङ्कारक! कुत्र मे यासि दृष्टिपथपतितः?।
 पुरुषो भव एष तव शीर्षच्छेदं करोमीति ॥११३॥
 एवमादि व्याहरन् चित्रगतिर्गृहीत-निशितकरवालः।
 अनुमार्गेणोत्पतितो भगिन्या विमोचनार्थाय ॥११४॥

चतुर्भिः कुलकम् ॥

गुजराती अर्थ-

आ प्रमाणे कहेती तेणी ने सहसा कनकप्रभे आवी ने हाथ मां लई
 ने तमाल ना पर्ण जेवा श्याम गगन मां उडयो।

हा! भाई! माटी रक्षा करो, रक्षा करो ओ प्रियतम! मारु रक्षण करो।
 इत्यादि बोलती अपहराती पोतानी बहेन ने जोइ ने.

पोताना कुल ने कलंकित करनार! माटी दृष्टी मां आवेली तुं क्यां
 जाय छे. तारु पुरुषत्व ब्रताव! आ तलवार थी ज तारु मस्तक छेदुं छु।

इत्यादि बोलतो ग्रहण करेली तीक्ष्णतलवारवाळो चित्रगति बहेन ने
 छोडाववा माटे तेनी पाछळ दोइयो।

हिन्दी अनुवाद-

इस प्रकार बोलती हुई चित्रलेखा को कनकप्रभ ने आकर सहसा हाथ में
 लिया और तमाल के पर्ण की भाँति श्याम गगन में उड़ गया।

हा! भैया! मेरी रक्षा करो! रक्षा करो! ओ वल्लभ! मेरी रक्षा करो! इत्यादि
 वचन को पुकारती अपहरित होती अपनी बहन को देखकर-

कहता है 'अरे! कुल कलङ्की! मेरी नजरों में आकर अब तू कहाँ जाता है? तेरा पुरुषत्व बता! इसी तलवार से ही तेरा सिरच्छेद करूँगा।'

इत्यादि वचन बोलता हुआ तीक्ष्ण तलवार को हाथ में लेकर चित्रगति बहन को छुड़ाने के लिए पीछे दौड़ा।

गाहा—

अह तं विमोहयंतो कणगपहो आगओ नियय-नयरे ।

चित्तगईवि खयरो अणुमग्गं तस्स संपत्तो ॥११५॥

संस्कृत छाया—

विमोहीनी विद्या

अथ तं विमोहयन् कनकप्रभ आगतो निजनगरे ।

चित्रगतिरपि खचरोऽनुमार्गं तस्य सम्प्राप्तः ॥११५॥

गुजराती अर्थ—

हवे तेने मोह पमाडतो कनकप्रभ पोताना नगर मां आव्यो, अने चित्रगति पण तेना मार्ग ने अनुसरतो आव्यो!

हिन्दी अनुवाद—

अब कनकप्रभ भी चित्रगति को मोहित करता हुआ अपने नगर में आया और चित्रगति भी उसके मार्ग का अनुसरण करते हुए आया।

गाहा—

ततो विमोहणीए विज्जाए मोहिऊण चित्तगइं ।

सुरनंदणे पविट्ठो कणगपहो नियय-नयरम्मि ॥११६॥

संस्कृत छाया—

ततो विमोहिन्या विद्यया मोहयित्वा चित्रगतिम् ।

सुरनन्दने प्रविष्टः कनकप्रभो निजकनगरे ॥११६॥

गुजराती अर्थ—

त्याएपछी मोहिनी विद्या वडे चित्रगति ने मोह पमाडी ने कनकप्रभ सुरनन्दन नामना पोताना नगर मां प्रवेश्यो।

हिन्दी अनुवाद—

उसके बाद मोहिनी विद्या से चित्रगति को मोहित करके कनकप्रभ सुरनन्दन नाम के अपने नगर में आ गया।

गाहा—

अह सो मोहिय-चित्तो चित्तगई तत्थ बाहिरुज्जाणे ।

(वी?)बीसरिय-भगिणि-हरणो

अवयरिओ

कोउहल्लेण ॥११७॥

संस्कृत छाया—

चित्रगति नी मूढता

अथ स मोहितचित्तश्चित्रगतिस्तत्र बहिरुद्याने ।

विस्मृत-भगिनिहरणोऽवतरितः कुतूहलेन ॥११७॥

गुजराती अर्थ—

हवे मोहित थयेला चित्तवाळो चित्रगति चहेन ना अपहरण ने भूलीने कुतूहलताथी त्यां चहाए ना उद्यान मां उतर्यो।

हिन्दी अनुवाद—

इधर मोहित चित्तवाला चित्रगति बहन के अपहरण की बात भूलकर कुतूहलता से वहीं बाहर उद्यान में उतर गया।

गाहा—

दृट्ठुं जण-संदोहं उसभ-जिणिंदस्स पवर-भवणम्मि ।

जत्ता-समए मिलियं विचित्त-नेवत्थ-सच्छायं ॥११८॥

पविसिय जिणिंद-भवणं वंदिय भत्तीइ पढम-जिण-नाहं ।

उवविट्ठो चित्तगई विज्जाहर-नियर-मज्झम्मि ॥११९॥ युग्मम् ॥

संस्कृत छाया—

दृष्ट्वा जनसन्दोहं ऋषभजिनेन्द्रस्य प्रवरभवने ।

यात्रासमये मिलितं विचित्रनेपथ्यसच्छायम् ॥११८॥

प्रविश्य जिनेन्द्रभवनं वन्दित्वा भक्त्या प्रथमजिननाथम् ।

उपविष्टश्चित्रगतिर्विद्याधरनिकरमध्ये ॥११९॥ युग्मम् ॥

गुजराती अर्थ—

ऋषभदेव भगवान ना श्रेष्ठ जिनालय मां यात्रा ना समये विविध वस्त्रो थी सुंदर जन समूह ने भेगो थयेलो जोईने। चित्रगति (पण) जिनभवन मां प्रवेशी ने प्रथम जिनेश्वर ऋषभदेव भगवान ने भक्तिपूर्वक वन्दन करी ने विद्याधरो नी मध्ये चेटो।

हिन्दी अनुवाद—

ऋषभदेव प्रभु के श्रेष्ठ जिनालय में यात्रा के समय पर विविध वस्त्रों से युक्त सुंदर जनसमूह को देखकर चित्रगति ने (भी) जिनभवन में प्रवेश करके, प्रथम जिनेश्वर आदिनाथप्रभु की भक्तिभाव से वन्दना करके विद्याधरों के बीच में बैठा!

गाहा—

पत्तो खणंतराओ जलणप्पह-पेसिओ नरो एगो ।

पुच्छंतो चित्तगइं दमघोसो नाम जिण-भवणे ॥१२०॥

संस्कृत छाया—

प्राप्तः क्षणान्तराद् ज्वलनप्रभप्रेषितो नर एकः ।

पृच्छन् चित्रगतिं दमघोषो नाम जिनभवने ॥१२०॥

गुजराती अर्थ—

एटलीवार मां ज्वलनप्रभे मोकलेल दमघोष नाम नो एक माणस चित्रगति नी पृच्छा कएतो जिनभवन मां आव्यो।

हिन्दी अनुवाद—

उतनी देर में ज्वलनप्रभ से प्रेषित दमघोष नाम का एक व्यक्ति चित्रगति की तलाश करता हुआ जिनभवन में आया।

गाहा—

दट्ठूण य चित्तगइं पणामिय नेऊण ताहि एगंते ।

दमघोसो भणइ तओ भगिणीए विमोयणट्ठाए ॥१२१॥

उप्पइओ ताव तुमं, जलणपहो पिच्छिउंपि तं सव्वं ।

अक्खुहिय-मणो सम्मं नवि चलिओ नियय-किरियाओ ॥१२२॥

॥युग्मम्॥

संस्कृत छाया—

दृष्ट्वा च चित्रगतिं प्रणम्य नीत्वा तदा एकान्ते ।

दमघोषो भणति ततो भगिन्या विमोचनार्थाय ॥१२१॥

उत्पतितस्तावत् त्वं ज्वलनप्रभः प्रेक्ष्याऽपि तत् सर्वम् ।

अक्षुभितमनाः सम्यग् नहि चलितो निजक्रियायाः ॥१२२॥ युग्मम् ॥

गुजराती अर्थ—

चित्रगति ने जोई ने अने नमस्कार कयी ने एकान्त स्थान मां लई जई ने दमघोष आ प्रमाणे कहे छे— 'चहेन ने छोडाववा माटे तमे उडया,

ते चधु जोई ने पण ज्वलनप्रभ अक्षुब्धमनवाळो साची चीते पोतानी क्रिया करतो जरा यण चलित न थयो।

हिन्दी अनुवाद—

चित्रगति को देखकर नमस्कार करके, एकान्त में ले जाकर दमघोष ने इस प्रकार कहा— बहन को छुड़ाने के लिए आप गगन में उड़े। यह सब देखकर भी अक्षुब्ध चित्तवाला ज्वलनप्रभ तनिक भी अपनी क्रिया से चलायमान नहीं हुआ!

गाथा—

निच्चल-चित्तं दट्ठुं जलणपहं मंत-जाव-वावारं ।

अह सा रोहिणि-विज्जा पच्चक्खा झत्ति संजाया ॥१२३॥

संस्कृत छाया—

विद्या प्राप्ति

निश्चलचित्तं दृष्ट्वा ज्वलनप्रभं मन्त्रजाप-व्यापारम् ।

अथ सा रोहिणीविद्या प्रत्यक्षा झटिति सञ्जाता ॥१२३॥

गुजराती अर्थ—

मन्त्रजाप नी क्रिया मां निश्चलचित्तवाळा ज्वलनप्रभने जोई ने ते रोहिणी विद्यादेवी जल्दी थी प्रत्यक्ष थई!

हिन्दी अनुवाद—

मन्त्रजाप की क्रिया में निश्चल चित्तवाले ज्वलनप्रभ को देखकर वह रोहिणीविद्या देवी शीघ्र ही प्रत्यक्ष हुई।

गाथा—

भणियं च तीए पुत्तय! अणन्न-सरिसं हि सुट्ठु धीरत्तं ।

ता सिद्धा तुज्झ अहं भणसु य जं मज्झ कायव्वं? ॥१२४॥

संस्कृत छाया—

भणितं च तथा पुत्रक! अनन्यसदृशं हि सुष्टु धीरत्वम् ।

तस्मात् सिद्धा तवाहं भण च यद् मे कर्तव्यम्? ॥१२४॥

गुजराती अर्थ—

अने तेणी य कहयुं-हे पुत्र! ताचा मां धीरत्व खरेखर अनन्य छे. तेथी हूं तने सिद्ध (आधीन) थई छुं. मारे जे करवा योग्य होय तेनो आदेश कर।

हिन्दी अनुवाद—

और उसने कहा— हे पुत्र! तेरे में निश्चित ही अनन्य धैर्य है! अतः मैं तेरे अधीन हूँ। मुझे जो कार्य करना है उसका आदेश कीजिए।

गाहा—

भणियं जलणपहेणं अवहरिया मज्झ भारिया जा सा ।
कणगप्पहेणं, तं ताव सिग्घमाणेह मह पासं ॥१२५॥

संस्कृत छाया—

भणितं ज्वलनप्रभेणापहता मे भार्या या सा ।
कनकप्रभेण तां तावत् शीघ्रमानयत मे पार्श्वम् ॥१२५॥

गुजराती अर्थ—

ज्वलनप्रभे कहयुं, 'मायी जे पत्नी कनकप्रभे हरी छे तेने जल्दी थी
मायी पासै लावो!

हिन्दी अनुवाद—

तब ज्वलनप्रभ ने कहा— मेरी जो पत्नी को कनकप्रभ उठाकर ले गया है
उसे जल्दी से मेरे पास लाओ।

गाहा—

भणियं विज्जाइ तओ सुणसु इमं ताव वइयरं पुत्त! ।
केवलि-वयणाईओ सव्वोवि हु वइयरो तस्स ॥१२६॥
पन्नत्तीए कहिओ तत्तो सो आगओ तुह समीवे ।
खोहण-हेउं सव्वं मायाए कयं इमं तेण ॥१२७॥ युग्मम् ॥

संस्कृत छाया—

भणितं विद्यया ततः शृण्विमं तावद् व्यतिकरं पुत्र! ।
केवलिवचनादेः सर्वोऽपि खलु व्यतिकरस्तस्य ॥१२६॥
प्रज्ञप्त्या कथितस्ततः स आगतस्तव समीपे ।
क्षोभण-हेतुं सर्वं मायया कृतमिदं तेन ॥१२७॥ युग्मम् ॥

गुजराती अर्थ—

विद्याए कह्युं, 'हे पुत्र ! आ वृत्तांत सांभळ - एम केवळी वचनथी
शरु कयी संपूर्ण वृत्तांत तेने कह्यो, पछी ते तायी पासै आव्यो अने तने क्षोभ
पमाडवा आ बंधुं तेणेज मायाथी कर्युं ।

हिन्दी अनुवाद—

अतः विद्या ने कहा- 'हे पुत्र ! सम्पूर्ण वृत्तान्त को आप सुनिए ? ऐसा कहकर प्रज्ञप्ति ने केवली भगवंत द्वारा कहे गये सभी वृत्तान्त कह सुनाया ।

और वापिस कहा- वह कनकप्रभ तुझे क्षुभित करने के लिए ही यहाँ आया था और उसने ही यह सब माया की ।

गाहा—

तुह महिला निय-गेहे अच्छइ निरुवदवा सुहेणं तु ।

चित्तगई पुण तेणं विमोहिओ मोहणि-प्रभावा ॥१२८॥

सुरनंदणम्मि नयरे जिणिंद-भवणम्मि अच्छइ निविट्ठो ।

ता मा काहिसि किंचिवि एत्थत्थे पुत्त! उव्वेवं ॥१२९॥ युग्मम् ॥

संस्कृत छाया—

तव महिला निजगेहे आस्ते निरुपद्रवा सुखेन तु ।

चित्रगतिः पुनस्तेन विमोहितो मोहनी-प्रभावात् ॥१२८॥

सुरनन्दने नगरे जिनेन्द्रभवने आस्ते निविष्टः ।

तस्माद् मा करिष्यसि किञ्चिदाप्यत्रार्थे पुत्र! उद्वेगम् ॥१२९॥

युग्मम् ॥

गुजराती अर्थ—

ताची पत्नी उपद्रव वगदनी सुखपूर्वक पोताना घटे छे. वळी चित्रगति पण मोहिनी विद्या ना प्रभाव थी मूढ चनेल, सुरनंदन नगर ना जिनभवन मां छेठेलो छे. माटे आ कारण थी हे पुत्र! तूं जय पण उद्वेग ने धारण कयीश नहि!

हिन्दी अनुवाद—

तेरी पत्नी निरुपद्रव आनन्दपूर्वक स्वयं के घर में ही है तथा चित्रगति भी मोहिनी विद्या के प्रभाव से मूढ चित्तवाला सुरनन्दन नगर के जिनभवन में बैठा है, अतः इस हेतु से हे पुत्र! तू तनिक भी उद्विग्न मत बनना ।

गाहा—

एवं भणिउं विज्जा अदंसणं झत्ति उवगया ताहे ।

अहयं जलणपहेणं पट्टविओ तुम्ह पासम्मि ॥१३०॥

संस्कृत छाया—

एवं भणित्वा विद्याऽदर्शनं झटित्युपगता तदा ।

अहं ज्वलनप्रभेण प्रस्थापितस्ते पार्श्वे ॥१३०॥

गुजराती अर्थ—

आ प्रमाणे कहीने ज्याचे विद्या जल्दी थी अद्रश्य थई त्याचे ज्वलनप्रभे मने तमाटी पासे मोकल्या छे।

हिन्दी अनुवाद—

इस प्रकार कहकर जब विद्या जल्दी से अदृश्य हो गई तब ज्वलनप्रभ ने मुझको आपके पास भेजा है।

गाहा—

एवं च तेण भणिओ दमघोसेणं अमूढ-चित्तो सो ।

चित्तगई संजाओ चलिओ सह तेण निय-ठाणं ॥१३१॥

संस्कृत छाया—

एवं च तेन भणितो दमघोषेणामूढचित्तः सः ।

चित्रगतिः सञ्जातश्चलितः सह तेन निजस्थानम् ॥१३१॥

गुजराती अर्थ—

आ प्रमाणे दमघोषे कहयुं अने अमूढचित्तवाळो थयेलो चित्रगति ते तेनी साथे पोताना स्थाने चाल्यो।

हिन्दी अनुवाद—

इस प्रकार कहने पर अमूढ चित्तवाला चित्रगति उनके साथ अपने स्थान पर चला।

गाहा—

एत्थंतरम्मि न्हवणे वित्त-प्पायम्मि जिण-वरिंदस्स ।

पविसइ नयरे लोगो नाणाविह-वाहणारूढो ॥१३२॥

संस्कृत छाया—

अत्रान्तरे स्नपने वृत्तप्राये जिनवरेन्द्रस्य ।

प्रविशति नगरं^१ लोको नानाविध-वाहनारूढः ॥१३२॥

१. सूत्र ४।३।१३५ प्राकृत व्याकरण (सिद्धहेम) से द्वितीया

गुजराती अर्थ-

स्टली वार मां जिनेश्वर भगवंत नो स्नात्र महोत्सव प्रायः पूर्ण थयेछथे
विविध प्रकारनां वाहन पर आरूढ थयेलो लोक नगर मां प्रवेशे छे।

हिन्दी अनुवाद-

इतनी देर में जिनेश्वर भगवंत का स्नात्र महोत्सव प्रायः पूर्ण होने से विविध प्रकार के वाहन पर आरूढ होकर लोग नगर में प्रवेश करते हैं।

गाहा-

अवि य।

कोवि हु सिवियारूढो आरूढो रह-वरेसु चित्तेसु ।

हय-गय-अस्सतरेसुं डोलिय-जुगेसु विविहेसु ॥१३३॥

संस्कृत छाया-

अपि च

कोऽपि खलु शिबिकारूढ आरूढो रथवरेषु चित्रेषु ।

हय-गजाश्वतरेषु डोलिय(एण)युगेषु विविधेषु ॥१३३॥

गुजराती अर्थ-

केटलाक पुरुषो पालखीमां चेठा, केटला हाथी, घोडा, खच्चरवाळा अने काळाहरणोना युगलवाळा विविध प्रकारना सवा सुन्दर श्रेष्ठ रथोमां आरूढ थया।

हिन्दी अनुवाद-

कितने लोग पालकी में बैठे, कितने लोग हाथी पर, घोड़े पर और खच्चर वाले एवं काले हिरनो के युगलवाले ऐसे विविध प्रकार के सुन्दर श्रेष्ठ रथों में बैठे।

गाहा-

एत्थंतरम्मि हत्थी कणगप्पह-संतिओ महा-काओ ।

मय-मत्तो उम्मिद्धो नीहरिओ ताओ नयराओ ॥१३४॥

संस्कृत छाया-

मदोन्मत्त हाथी

अत्रान्तरे हस्ती कनकप्रभसत्को महाकायः ।

मदमत्त उम्मिद्धो (निरङ्कुशो) निःसुतस्तस्माद् नगरात् ॥१३४॥

गुजराती अर्थ—

अटलीवारमां मदथी उत्तम थयेल कनकप्रभ नो महावत वगरनो
महावत हाथी ते नगर थी चहाट नीकळयो।

हिन्दी अनुवाद—

इतनी देर में कनकप्रभ का मद से उन्नत महावत रहित महाकाय हाथी
उस नगर से बाहर निकला।

गाहा—

भंजंतो गिह-दारे उड्डोसेंतो वरंडए बहुसो ।

मारितो जण-नियरं उच्छोलिंतो रहे विविहे ॥१३५॥

अह तं कयंत-सरिसं उड्डीकय-गुरु-करं सुघोर-मुहं ।

ददुं नड्डो लोओ दिसो दिसिं मरण-भय-भीओ ॥१३६॥॥युग्मम्॥

संस्कृत छाया—

भङ्गन् गृहद्वाराण्युर्ध्वावश्यन् वरण्डकान् बहुशः ।

मारयन् जननिकरमुन्मूलयन् रथान् विविधान् ॥१३५॥

अथ तं कृतान्त-सदृशमुर्ध्वीकृत-गुरुकरं सुघोरमुखम् ।

दृष्ट्वा नष्टो लोको दिशो दिशिं मरणभयभीतः ॥१३६॥ युग्मम्॥

गुजराती अर्थ—

घर ना दरवाजाओने तोडतो, अनेक चीते भीतो ने नष्ट करतो, जन
समूह ने मारतो, विविध प्रकार ना रथो ने उखाडतो। हवे ऊँची करेली मोटी
सूँढवाळा, भयंकट मुखकृतिवाला यमराज तुल्य ते हाथी ने जोई ने मरण
ना भयथी डरेलो लोक एक दिशाथी चीजी दिशा मां भागवा लाग्यो।

हिन्दी अनुवाद—

घर के द्वारों को तोड़ता, बहुत तरह से दीवारों को नष्ट करते, जन-समूह
को मारते, विविध प्रकार के रथों को उखाड़ते। अब ऊँची की है दन्तशूल ऐसा
भयंकर आकृति युक्त यमराज के तुल्य हाथी को देखकर मरण के भय से लोग
एक दिशा से दूसरी दिशा में भागने लगे।

गाहा—

सोवि हु पवहण-निवहं भंजंतो दंत-पाय-घाएहिं ।

उच्छोलिंतो सुंडाइ हिंडए सव्वओ तत्थ ॥१३७॥

संस्कृत छाया—

सोऽपि खलु प्रवहण-निवहं भङ्गन् दन्तपादघातैः ।

उन्मूलयन् शुण्डया हिण्डते सर्वतस्तत्र ॥१३७॥

गुजराती अर्थ—

ते हाथी पण दांत अने पग ना घात वडे वहानो ना समूह ने भांगतो
सूंड वडे उखाडतो त्यां चारे बाजु भ्रमवा लाग्यो।

हिन्दी अनुवाद—

वह हाथी भी दांत और पैरों से वाहनों के समूह को नष्ट करता हुआ,
सूंड से उखाडता चारों ओर घूमने लगा।

गाहा—

कोऊहलेण गयणे परिट्टिओ पुलोइउं पयत्तो सा ।

चित्तगई मत्त-करिं कयंत-वयणं व दुष्पिच्छं ॥१३८॥

संस्कृत छाया—

कुतूहलेन गगने प्रतिष्ठितो द्रष्टुं प्रवृत्तः सः ।

चित्रगतिर्मत्तकरिणं कृतान्त-वदनमिव दुष्प्रेक्ष्यम् ॥१३८॥

गुजराती अर्थ—

त्यारे गगन मां चहेल चित्रगति यमराज ना मुख जेवा दुःखे थी जोई
शकाय तेवा मदोन्मत्त हाथी ने कुतूहलता थी जोवा माटे प्रवृत्त थयो!

हिन्दी अनुवाद—

तब यमराज के मुख के तुल्य दुष्प्रेक्ष्य, मदोन्मत्त हाथी को गगन में रहा
चित्रगति कुतूहल से देखने लगा।

एक युवती

गाहा—

एत्थंतरम्मि एगम्मि रह-वरे पढम-जोव्वणारंभा ।

जुवई अणन्न-रूवा बहुविह-वर-भूसणाइन्ना ॥१३९॥

उम्मग्ग-पयट्टेहिं जच्च-तुरंगेहिं हत्थि-तट्टेहिं ।

भग्गम्मि रहे भूमीइ निवडिया विगय-जीय व्व ॥१४०॥॥युग्गम् ॥

संस्कृत छाया—

अत्रान्तरे एकस्मिन् रथवरे प्रथम-यौवनारम्भा ।

युवतिरनन्यरूपा बहुविध-वरभूषणाकीर्णा । १३९ ।।

उन्मार्ग-प्रवृत्तैर्जात्यतुरङ्गैर्हस्तित्रस्तैः ।

भग्ने रथे भूम्यां निपतिता विगतजीवितेव ।। १४० ।। युगम् ।।

गुजराती अर्थ—

एटलीवारमां एक श्रेष्ठ रथमां एक नवयौवना अनेकविध श्रेष्ठ आभूषणोंथी सज्जित अने अद्वितीय सौंदर्यवाळी युवति, हाथीथी त्रासेला अने उछळकूद करता उत्तम घोडाओ वडे (लडू जवातो) रथ भांग्ये छते भूमितल पर मृत जेवी पडी ।

हिन्दी अनुवाद—

इतनी देर में एक श्रेष्ठ रथ में एक नवयौवना अनेक प्रकार के श्रेष्ठ आभूषणों से सज्जित और अद्वितीय सौंदर्यवाली युवति, हाथी से त्रस्त एवं उछलकूद करते उत्तम घोड़ों (द्वारा खींचे जाते) रथ के टूट जाने पर भूमितल पर मृत जैसी (गिर) पड़ी।

गाहा—

नव-नीलुप्यल-सच्छह-विसाल-लोलंत-लोयणा वरई ।

संभग्ग-कन्न-कुंडल-विलुलिय-वर-कुंतल-कलावा ।। १४१ ।।

विच्छिन्न-कणय-खिंखिणि-नियर-पलंबंत-मेहला-दामा ।

ईसीसि-हार-पच्छन्न-थणहरा गलिय-सिर-कुसुमा ।। १४२ ।।

विहडिय-अंगय-जुयला निवडिय-कडया पणट्ट-गेविज्जा ।

तुट्ट-गुण-हार-वियलिय-मुत्ताहल-सोहिय-सरीरा ।। १४३ ।।

संभग्ग-नेउर-जुया मुसुमूरिय-रयण-मालिया-नियरा ।

भूमि-तल-लुलिय-देहा अह दिट्टा तेण सा करिणा ।। १४४ ।।

।। चतसृभिः कुलकम् ।।

संस्कृत छाया—

नवनीलोत्पलसच्छाय-विशाल-लोलयद्-लोचना वराकी ।

संभग्न-कर्णकुण्डल-विलुलित-वरकुन्तल-कलापा ।। १४१ ।।

विच्छिन्नकनककिङ्किणीनिकर-प्रलम्बमान-मेखलादामनी (दामा) ।

ईषदीषद्-हार-प्रच्छन्नस्तनभरा गलित-शिरः-कुसुमा ।। १४२ ।।

विघटिताङ्गदयुगला निपतित-कटका प्रणष्ट-प्रैवेयका ।

त्रुटित-गुणहार-विगलित-मुक्ताफल-शोभितशरीरा ॥१४३॥

संभग्न-नूपुरयुगा भग्नरत्नमालिकानिकरा ।

भूमितल-लुलितदेहाऽथ दृष्टा तेन सा करिणा ॥१४४॥

॥चतुर्भिः कुलकम् ॥

गुजराती अर्थ—

नवा नीलकमल जेवा विशाल, चंचल लोचनवाळी, साठी चीते भांगेला कान ना कुंडलवाळी, चौळाई गयेला श्रेष्ठ केश ना समूहवाळी, सुवर्ण नी घुघरी ना समूह थी लटकती कटि मेखला जेनी नाश पामी गई, छे तेवी, हार थी कंडक ढंकायेल स्तनना भारवाळी, खसी गयेला मस्तकना पुष्पोवाळी, तूटी गयेला बाजुबंधवाळी, पडी गयेला कंकणवाळी, तूटी गयेला कंठ ना आभरणवाळी, हार नो दोरो तूटी जवा थी वेचाई गयेला मोतीओ वडे शोभित शरीरवाळी, भांगी गयेला पायल (झांझर) युगलवाली, तूटेली रत्नमालाना समूहवाळी, भूमि पर आळोटता शरीरवाळी स्त्री ते हाथी वडे जोवाई।

हिन्दी अनुवाद—

नूतन नीलकमल जैसे विशाल और चञ्चल नयनवाली, अच्छी तरह से भग्न कुण्डल युक्त कानवाली, बिखरे हुए केश के समूहवाली, सुवर्ण की घुघरी का समूह से लम्बायमान कटि मेखला जिसकी नष्ट हुई है, हार से आवृत्त स्तन के बोझ वाली, मस्तक के पुष्प जिसके खिसक गए हैं, बाजुबंध जिसके नष्ट हो गये हैं, जिसके कंकण गिर गये हैं, जिसका कंठाभरण टूट गया है, हार का तंतू टूटने से बिखरे हुए मोतियों से सुन्दर देहवाली, भग्न पायल युगलवाली, त्रुटित रत्नमाला के समूहवाली, भूमितल पर लेटते शरीरयुक्त स्त्री को हाथी ने देखा।

गाहा—

तत्तो उज्झय-हृत्यो तीङ्ग वहद्वाङ्ग करि-वरो चलिओ ।

तं दद्दु परियरेणं गरुओ हाहा-रवो विहिओ ॥१४५॥

संस्कृत छाया—

तत उज्झितहस्तस्तस्या वधार्थाय करिवरश्चलितः ।

तं दृष्ट्वा परिकरेण गुरुको हाहारवो विहितः ॥१४५॥

गुजराती अर्थ—

ऊँची करेली सूँडवाळी ते हाथी तेणी ना वध माटे चाल्यो. ते हाथी ने जोई ने तेणी ना परिवार वाळ्य स मोटे हाहारव कर्यो।

हिन्दी अनुवाद—

ऊँची की हुई सूँडवाला हाथी उसके वध के लिए चला है, ऐसा देखकर युवती के परिवारवालों ने बड़ा कोलाहल किया।

गाहा—

सुसिलिद्ध-अंगुवंगं अह तं पडिपुत्र-चंद-सम-वयणं ।
कर-गिज्झ-मज्झ-भागं वियड-नियंब-त्यलिं जुवइं ॥१४६॥
दडुंपि समासन्नं नागं, गंतुं अचायमाणिं तु ।
मरण-भयाओ गाढं वेवंत-सरीरयं खुद्धं ॥१४७॥
तायारमपिक्खंतिं सतरल-तारं दिसो नियच्छंतिं ।
दडूणं चित्तगई गयण-त्थो चिंतए एवं ॥१४८॥
॥ तिसृभिः कुलकम् ॥

संस्कृत छाया—

चित्रगति नी सहाय
सुश्लिष्टाङ्गोपाङ्गामथ तां प्रतिपूर्णचन्द्रसमवदनाम् ।
करग्राह्य-मध्यभागां विकटनितम्बस्थलीं युवतीम् ॥१४६॥
दृष्ट्वापि समासन्नं नागं गन्तुमशक्नुवन्तीं तु ।
मरणभयाद् गाढं वेपमान-शरीरकां क्षुब्धाम् ॥१४७॥
त्रातारमपश्यन्तीं सतरलतारां दिशः पश्यन्तीम् ।
दृष्ट्वा चित्रगतिर्गगनस्थः चिन्तयत्येवम् ॥१४८॥ त्रिभिः कुलकम् ॥

गुजराती अर्थ—

सुडोळ अंगोपांगवाळी, पूर्णिमा ना चन्द्र समान मुखवाळी, हस्त वडे ग्रहण करवा योग्य कम्मरना मध्य भागवाळी, विशाल कटिप्रदेशवाळी युवती नी पासे आवेला हाथी ने जोईने पण जवा माटे अशक्य, मरणना भय थी अत्यंत कम्पता शरीरवाली क्षोभ पायेली, रक्षणहार ने नही जोती, चकमक नयनो थी दिशाओं ने जोती, युवती ने जोई ने गगन मां रहेल चित्रगति आ प्रमाणे विचारे छे।

हिन्दी अनुवाद—

सुंदर अंगोपांगवाली, पूर्णिमा के चन्द्र जैसे मुखवाली, हाथ द्वारा ही पकड़ने योग्य कमर के मध्य भाग वाली, विशाल कटिप्रदेशवाली युवती के पास आये हुए हाथी को देखकर जाने में असमर्थ मरण के भय से कम्पित देहवाली, भयभीत

अपने रक्षक को नहीं देखती, चकमक नयनों से दिशाओं को देखती, युवती को देखकर गगन में रहा चित्रगति इस प्रकार सोचता है।

गाहा—

हा! हा! काम-निहाणं महिला-रयणं विणस्सइ लगं ।
ओयारिऊणं गयणाउ ताहि अकम्मि सा गहिया ॥१४९॥

संस्कृत छाया—

हा! हा! कामनिधानं महिलारत्नं विनश्यति लग्नम् ।
अवतीर्य गगनात् तदाऽङ्गे सा गृहीता ॥१४९॥

गुजराती अर्थ—

अरे! आ! काम ना भण्डार समान महिला रत्न विनाश पामे छे, रम विचारी ने आकाशथी उतरी ने तेणी ने खोळा मां ग्रहण करी।

हिन्दी अनुवाद—

अरे! यह काम के भण्डार तुल्य महिलारत्न नष्ट हो जायेगा। ऐसा सोचकर आकाश से नीचे उतर कर महिला को अपनी गोद में ले लिया।

गाहा—

घित्तूण सयं सहसा ठाणे निरुवद्दवम्मि नेऊण ।
सीयल-तरुछाहाए निवेशिया कुट्टिमुच्छंगे ॥१५०॥

संस्कृत छाया—

गृहीत्वा स्वयं सहसा स्थाने निरुपद्रवे नीत्वा ।
शीतलतरुच्छायायां निवेशिता कुट्टिमोत्सङ्गे ॥१५०॥

गुजराती अर्थ—

स्वयं सहसा ग्रहण करी ने निरुपद्रव स्थान मां लई जई ने शीतल वृक्ष नी छायामां भूमिना खोळामां चेसाडी।

हिन्दी अनुवाद—

स्वयं सहसा ग्रहण करके निरुपद्रव स्थान में ले जाकर शीतल वृक्ष की छांव में फर्श की गोद में बैठाया।

गाहा—

तत्तो य उत्तरीयक-मिउ-पवणाऽऽसासियाए सो तीए ।
लज्जा-सज्जस-मउलिय-नयणेहिं पुलोइओ तत्तो ॥१५१॥

संस्कृत छाया—

ततश्चोत्तरीयक-मृदुपवनाऽऽश्वासितया स तथा ।

लज्जा-साध्वसमुकुलित-नयनाभ्यां दृष्टस्ततः ॥१५१॥

गुजराती अर्थ—

त्याच पछी उत्तरीय वस्त्र वडे विंझाता कोमल पवन द्वारा ते आश्वस्त थये छते लज्जा अने भययुक्त नयनी वडे जोवा लागी।

हिन्दी अनुवाद—

तत्पश्चात् उत्तरीय वस्त्र द्वारा हलका-सा पवन डालने पर आश्वस्त होने पर लज्जा और भययुक्त नयनों से देखने लगी।

गाहा—

चिय-परिचियं व दद्रुं तं तरुणं गरुय-नेह-सम्भावा ।

अमएण व संसित्ता जाया अह वियसिय-कवोला ॥१५२॥

संस्कृत छाया—

चित्तपरिचितमिव दृष्ट्वा तं तरुणं गुरुकस्नेहसद्भावात् ।

अमृतेनेव संसित्ता जाताऽथ विकसितकपोला ॥१५२॥

गुजराती अर्थ—

लांबा काळ थी परिचित जाणे न होय तेम ते तरुण ने जोईनि अतिस्नेह ना सद्भाव थी जाणे अमृत वडे सिंचाई होय तेम विकसित गालोवाळी थई।

हिन्दी अनुवाद—

लंबे काल से परिचित हो, ऐसा उस तरुण को देखकर अतिस्नेह और सद्भाव से अमृत द्वारा सिञ्चित हुई हो, ऐसे विकसित गालोवाली हुई।

गाहा—

चित्तगईवि य तीए दद्रुण अणोवमं तयं रूवं ।

तव्वयण-निसिय-निष्फंद-लोयणो चिद्रुई जाव ॥१५३॥

ताव य तीए घाई कइवय-जुवईहिं परिगया झत्ति ।

आगंतुं उवविट्ठा भणइ तयं महर-वाणीए ॥१५४॥युग्मम् ॥

संस्कृत छाया—

चित्रगतिरपि च तस्या दृष्ट्वाऽनुपमं तद्रूपम् ।

तद्ददन-निश्चित-निष्पन्दलोचनस्तिष्ठति यावद् ॥१५३॥

तावच्च तस्या धात्री कतिपय-युवतीभिः परिगता झटिति ।
आगत्योपविष्टा भणति तं मधुरवाण्या ॥१५४॥ युग्मम् ॥

गुजराती अर्थ—

चित्रगति पण तेणी ना अनुयाम रूप ने जोई ने तेना मुख उपर स्थापन
करेला अनिमेष नयनवाळो ज्यां सुधी रहे छे।

त्यांसुधी मां तेणीनी धावमाता केटलीक युवतीओ थी परिवरेली जल्दी
थी आवी ने बेटी अने मधुरवाणी वडे तेने आ प्रमाणे कहे छे।

हिन्दी अनुवाद—

चित्रगति भी उनके अनुपम रूप को देखकर उनके मुख को अनिमेष नयनों
से देखता है।

तब तक कुछ ही क्षणों में उनकी धायमाता कितनी युवतियों से परिवृत्त
जल्दी आकर बैठी और मधुरवाणी द्वारा इस प्रकार कहने लगी।

गाहा—

पर-कज्ज-करण-निरया हवंति किर सज्जणत्ति सच्चवियं ।
कन्नगमेयं मोयंतएण तुमए गइंदाओ ॥१५५॥

संस्कृत छाया—

परकार्यकरणनिरता भवन्ति किल सज्जना इति सत्यापितम् ।
कन्यकामेतां मोचयता त्वया गजेन्द्रात् ॥१५५॥

गुजराती अर्थ—

सज्जनो परकार्य करवामां निरत होय ज छे आ उक्ति ने साची कची
बनावी छे. कारण के तमे गजेन्द्र थी आ कन्या ने छोडावी।

हिन्दी अनुवाद—

सज्जन पर-कार्य में निरत ही रहते हैं। यह उक्ति निश्चित सत्य कर दिखायी
है। क्योंकि आपने गजेन्द्र से इस कन्या को छोड़ाया है।

गाहा—

ता निष्कारण-वच्छळ! तुज्ज पभावाओ जीविया एसा ।
एमाइ बहु-विगण्यं अभिनंदिय सा पुणो भणइ ॥१५६॥

संस्कृत छाया—

तस्माद् निष्कारणवत्सल! ते प्रभावाद् जीविता एषा ।
एवमादि बहुविकल्प-मभिनन्द्य सा पुनर्भणति ॥१५६॥

गुजराती अर्थ—

तेथी हे निष्कारणवत्सल! तमाचा प्रभाव थी आ जीवित रही छे. इत्यादि घणाप्रकारे अभिनन्दन आपी ने वळी ते कहे छे।

हिन्दी अनुवाद—

अतः हे निष्कारणवत्सल! आप के प्रभाव से ही यह जीवित हुई है इस प्रकार के अनेक मधुर आलाप द्वारा अभिनन्दन देकर पुनः कहती है।

गाहा—

गच्छामि अम्ह गेहं उस्सूरं वट्टए जओ इण्हि ।

भणियं च चित्तगइणा एवं कुणहत्ति ततो य ॥१५७॥

संस्कृत छाया—

गच्छामि मम गेहमुत्सूरं वर्तते यत इदानीम् ।

भणितञ्च चित्रगतिना एवं कुरुतेति ततश्च ॥१५७॥

गुजराती अर्थ—

अमे अमाटे घेट जईए-छीए, हमणा सन्ध्या थइ छे त्याचे चित्रगति ए कहयुं साठ ए प्रमाणे करे।

हिन्दी अनुवाद—

हम हमारे घर जाते हैं, सूर्य भी अभी तेजवान् हो गया है। तब चित्रगति ने कहा— अच्छा, ऐसा ही करो।

गाहा—

निय-नयराभिमुहाणं ताणं चलियाण तीए कन्नाए ।

चित्तगइ-कर-यलओ मुद्दा-रयणं लहुं गहियं ॥१५८॥

संस्कृत छाया—

निजनगराभिमुखासु तासु चलितासु तथा कन्यया ।

चित्रगति-करतलतो मुद्दारत्नं लघु गृहीतम् ॥१५८॥

गुजराती अर्थ—

पोताना नगर तरफ बधा चाले छते ते कन्या ए चपळताथी चित्रगति ना हाथमाथी मुद्दारत्न ने ग्रहण करी लीधुं।

हिन्दी अनुवाद—

अपने नगर की ओर सभी चलते हैं तब कन्या ने चालाकी से शीघ्र चित्रगति के हाथ में से मुद्रारत्न ले लिया।

गाहा—

नियय-कर-संठियं पुण समप्पियं तस्स ताण पच्छत्रं ।
अह सा सज्झस-वेविर-देहा गंतुं पयट्टत्ति ॥१५९॥

संस्कृत छाया—

निजककरसंस्थितं पुनः समर्पितं तस्मै ताभ्यः प्रच्छन्नम् ।
अथ सा साध्वस-वेपनशील-देहा गन्तुं प्रवृत्तेति ॥१५९॥

गुजराती अर्थ—

वळी पोताना हाथ मां दहेल मुद्रारत्न स्त्रीओथी छूपी चीते तेने समर्पित कयी भय थी कम्पता देहवाळी जवा माटे तैयार थई।

हिन्दी अनुवाद—

फिर अपने हाथ का मुद्रारत्न स्त्रियों से छूपकर उसे अर्पित करके भय से कम्पित देहवाली वह जाने के लिए तैयार हुई।

गाहा—

वलिय-ग्गीवं तीए अइगुरु-अणुराय-पिसुण-दिट्ठीए ।
निज्जाइओ तहा सो जह जाओ कुसुमसर-विसओ ॥१६०॥

संस्कृत छाया—

वलितग्रीवं तथाऽतिगुर्वनुराग-पिशुन-दृष्ट्या ।
निध्यातस्तथा स यथा जातः कुसुमशर-विषयः ॥१६०॥

गुजराती अर्थ—

वळेली डोकवाळी तेणीए अत्यंत अनुचगपूर्वक चाडी खाती दृष्टि वडे ते चीते जोयो, के जेवी चीते ते कामदेव नो विषय थयो।

हिन्दी अनुवाद—

युवति ने गर्दन को मोड़कर अत्यंत अनुराग युक्त दृष्टिपात उस जवान पर किया, जिससे वह कामदेव का विषय हो गया।

गाहा—

अह सा सहि-यण सहिया कमेण निय-पुर-वरं पविद्धति ।
चित्तगईवि य तीए जोव्वण-रूवेहिं हय-हियओ ॥१६१॥
चित्त-लिहितु व्व जाओ खणंतरं विगय-अन्न-वावारो ।
तं दद्धुं दमघोसो सविणयमेवं समुल्लवइ ॥१६२॥ युग्मम् ॥

संस्कृत छाया—

अथ सा सखीजनसहिता क्रमेण निजपुरवरं प्रविष्टेति ।
चित्रगतिरपि च तस्या यौवनरूपाभ्यां हतहृदयः ॥१६१॥
चित्रलिखित इव जातः क्षणान्तरं विगताऽन्य-व्यापारः ।
तं दृष्ट्वा दमघोषः सविनयमेवं समुल्लपति ॥१६२॥ युग्मम् ॥

गुजराती अर्थ—

हवे ते सखीजन सहित क्रमपूर्वक पोनाना नगर मां प्रवेशी, अने चित्रगति पण तेणी ना यौवन अने रूप वडे हणायेला हृदयवाळो चित्रमां आलेखायेल नी जेम निश्चल थयो, व्यापारशून्य सवा तेने जोई ने सक क्षण पछी दमघोषे विनयपूर्वक आ प्रमाणे कहयुं।

हिन्दी अनुवाद—

अब वह सखिजन के सहित, क्रम से अपने गाँव में आयी और यहाँ चित्रगति भी उनके रूप और यौवन से आकृष्ट चित्तवाला चित्र में चित्रित की तरह निश्चल हो गया। व्यापार शून्य उसे देखकर एक क्षण के बाद दमघोष ने विनयपूर्वक इस प्रकार कहा—

गाहा—

अत्थ-गिरि-सिहरमणुसरइ दिणयरो एस वियलिय-पयावो ।
ता गम्मउ निय-ठाणे कुमार! किमिणा विलंबेण? ॥१६३॥

संस्कृत छाया—

अस्तगिरिशिखरमनुसरति दिनकर एष विगलितप्रतापः ।
तस्माद् गम्यतां निजस्थाने कुमार! किमनेन विलम्बेण? ॥१६३॥

गुजराती अर्थ—

गळी गयेला प्रतापवाळो आ सूर्य पण अस्तगिदि ना शिखर ने अनुसरते छे. हे कुमार! तेथी स्व स्थाने जईए अही विलम्ब करवा वडे सर्युं।

हिन्दी अनुवाद—

तेजहीन ऐसा यह सूरज भी अस्तगिरि के शिखर का आश्रय लेता है। अतः हे कुमार! अब हम अपने स्थान पर चले। यहाँ विलम्ब न करें।

गाहा—

तव्वयणं सोऊणं काउं आगार-संवरं भणइ ।

एवं करेसु (करेमु?) नवरं कारणमेयं विलंबस्स ॥१६४॥

संस्कृत छाया—

तद्वचनं श्रुत्वा कृत्वाऽऽकारसंवरं भणति ।

एवं करवाणि केवलं कारण-मेतद् विलम्बस्य ॥१६४॥

गुजराती अर्थ—

य वचन सांभळी ने पोताना शरीर ने ठीक कचीने कहे छे. "हा" हुं आम कचु पण अहीं विलंब करवामां कारण छे।

हिन्दी अनुवाद—

ऐसे वचन सुनकर अपने शरीर को संभाल करके कहता है— "हां" मैं ऐसा करूँ किन्तु यहाँ विलम्ब का यह कारण है।

गाहा—

मह हत्थाओ पडियं मुद्दा-रयणं तु एत्थ कत्थवि य ।

तं गविसिउं पभाए झडत्ति अहमागमिस्सामि ॥१६५॥

संस्कृत छाया—

मम हस्तात् पतितं मुद्दारत्नं त्वत्र कुत्रापि च ।

तद् गवेषयित्वा प्रभाते झटित्यहमागमिष्यामि ॥१६५॥

गुजराती अर्थ—

माया हाथमांथी वीटी अहीं क्यांक पड़ी गइ छे. ते शोधी ने सवार मां हुं जल्दीथी आवी जईश।

हिन्दी अनुवाद—

मेरे हाथ में से अंगुठी यहाँ कहीं गिर गई है, उसे ढूँढकर मैं सुबह में जल्दी लौट आऊंगा।

गाहा—

तं पुण गच्छसु सिग्घं कहेज्ज जलणप्पहस्स वुत्तंतं ।

ईसि हसिऊण तओ दमघोसो एवमुल्लवइ ॥१६६॥

संस्कृत छाया—

त्वं पुनर्गच्छ शीघ्रं कथयतु ज्वलनप्रभाय वृत्तान्तम् ।
ईषद्धसित्वा ततो दमघोष एवमुल्लपति ॥१६६॥

गुजराती अर्थ—

वळी तु जल्दी थी जा अने ज्वलनप्रभ ने समाचार कहे, त्यारपछी दमघोष जराक हसी ने आ प्रमाणे कहेवा लाग्यो।

हिन्दी अनुवाद—

तू जल्दी जा और ज्वलनप्रभ को समाचार कहना, अतः दमघोष थोड़ा हँसकर इस प्रकार कहने लगा।

गाहा—

पच्चक्खम्मि वि दिट्ठे कुमार! किं एत्थ वंक्-भणिण्हिं? ।
किं न वि दिट्ठा कन्ना तुह हत्था तं पणिण्हंती? ॥१६७॥

संस्कृत छाया—

प्रत्यक्षेऽपि दृष्टे कुमार! किमत्र वक्रभणितैः? ।
किं नहि दृष्टा कन्या तव हस्तात् तत् प्रगृह्णन्ती? ॥१६७॥

गुजराती अर्थ—

हे कुमार! प्रत्यक्ष जोये छते पण वक्र बोलवा वडे अहीं शुं? ताचा हाथमांथी तेने ग्रहण करती कन्या शुं नथी जोवाई।

हिन्दी अनुवाद—

हे कुमार! प्रत्यक्ष देखने पर कुटिलता करने से क्या लाभ है? तेरे हाथ में से मुदारत्न को लेती उस कन्या को क्या नहीं देखा (है तुमने)?

गाहा—

ता कवडं मोत्तूणं जहद्वियं चेव साहिउं जुत्तं ।
कन्नाए मूल-सुद्धिं उवलभिउं आगमिस्सामि ॥१६८॥

संस्कृत छाया—

तस्मात् कपटं मुक्त्वा यथास्थितमेव कथयितुं युक्तम् ।
कन्याया मूलशुद्धिमुपलभ्यागमिष्यामि ॥१६८॥

गुजराती अर्थ—

तेथी कपट ने छोडीने यथास्थित कहेवुं ज योग्य छे. के कन्या नी
मूल स्थान ने शोधी ने हुं आवीश।

हिन्दी अनुवाद—

अतः कुटिलता को छोड़कर यथास्थित कहना ही योग्य है कि कन्या का
मूलस्थान खोजकर-जानकर मैं आऊँगा।

गाहा—

एवं च तेण भणिओ चित्तगई विहसिरुण वज्जरइ ।
सम्मं वियाणियं ते मणो-गयं मज्झ दमघोस! ॥१६९

संस्कृत छाया—

एवञ्च तेन भणितश्चित्रगतिर्विहस्य कथयति ।
सम्यग् विज्ञातं त्वया मनोगतं मे दमघोष! ॥१६९॥

गुजराती अर्थ—

आ प्रमाणे तेना वडे कहेवायेलो चित्रगति हसीने कहे छें. हे! दमघोष?
माया मनमां दहेलु ते सायी चीते जाणी लीधु।

हिन्दी अनुवाद—

इस प्रकार उसके कहने पर चित्रगति हँसकर कहता है, हे दमघोष! मेरे
दिल की बात तुमने अच्छे से जान ली।

गाहा—

अह सो कय-प्पणामो उप्पइओ पाविओ नियं ठाणं ।
चित्तगईवि पविट्ठो जुगाइ-जिणमंदिरे रम्मे ॥१७०॥

संस्कृत छाया—

अथ स कृतप्रणाम उत्पतितः प्राप्तो निजं स्थानम् ।
चित्रगतिरपि प्रविष्टो युगादि-जिनमन्दिरं रम्यम् ॥१७०॥

गुजराती अर्थ—

हवे ते करेला प्रणामवाळी, उडेलो, पोताना स्थाने पंहोंच्यो. अने चित्रगति
पण आदिनाथ भगवान ना मनोहर मन्दिर मां प्रवेश्यो.

हिन्दी अनुवाद—

अब वह प्रणाम करके उड़कर अपने स्थान पर आया और चित्रगति ने भी
आदिनाथ के जिनमन्दिर में प्रवेश किया।

गाहा—

वंदिय-जिण्ड-बिंबो जिण-उग्गह-वज्जियम्मि एगंते ।
गंतुणं उवविट्ठो समागया ताव रयणीवि ॥१७१॥

संस्कृत छाया—

वन्दित-जिनेन्द्र-बिम्बो जिनावग्रहवर्जिते एकान्ते ।
गत्वोपविष्टस्समागता तावद् रजन्यपि ॥१७१॥

गुजराती अर्थ—

जिनप्रतिमाओने वंदन करीने जिनावग्रह (जिन मंदिर नी मर्यादा नी ब्रह्मचरिणी भूमी थी रहित एकान्त मां जईने बेठो तेटलीवारमां रात्री पण थई गई।

हिन्दी अनुवाद—

जिनबिम्ब को वन्दन करके (मंदिर की मर्यादा के बहार) जिनावग्रह से रहित एकान्त में जाकर बैठा उतनी देर में रात हो गई।

गाहा—

अह चिंतिउं पयत्तो किं मन्ने तीइ मज्झ हत्थाओ ।
गहिउं (गहिअं?) मुद्दा-रयणं? किंवा मह ढोइयं
निययं? ॥१७२॥

संस्कृत छाया—

चित्रगति नी चिंता
अथ चिन्तयितुं प्रवृत्तः किं मन्ये तथा मम हस्तात् ।
गृहीतं मुद्दारत्नं? किं वा मे ढौकितं निजकम्? ॥१७२॥

गुजराती अर्थ—

हवे ते विचारवा माटे प्रवृत्त थयो के तेणीस माया हाथमांथी मुद्दारत्न ने लईने माया हाथ मां पोतानी अंगूठी मूकी आनु कारण शुं हरो?

हिन्दी अनुवाद—

अब वह सोचने लगा कि उसने मेरे हाथ में से मुद्दारत्न लेकर और खुद की मुद्दारत्न मुझे भेंट दी इसका क्या कारण है?

गाहा—

कह णु मए नायव्वं तीए कुलं? कह व सा वरेयव्वा? ।
जइ सा हविज्ज महिला हविज्ज तो जीवियं सहलं ॥१७३॥

संस्कृत छाया—

कथं नु मया ज्ञातव्यं तस्याः कुलं? कथं वा सा वरितव्या? ।

यदि सा भवेद् महिला भवेत् ततो जीवितं सफलम् ॥१७३॥

गुजराती अर्थ—

माटे तेणीनुं कुल (पैतृक वंश) केवी चीते जाणवु अथवा तेणीने केवी चीते परणवी, जो ते माटी पत्नी थाय तो मारु जीवित सफल थाय।

हिन्दी अनुवाद—

उस बाला का कुल कैसे जानुं? अथवा उनके साथ विवाह कैसे करूं? यदि वह मेरी भार्या बने तो मेरा जीवन सफल बने।

गाहा—

तारिस-रूव-जुयाए समयं इह विसय-सेवणं जुत्तं ।

तदभावे विसयासा विडंबणा मज्झ पडिहाइ ॥१७४॥

संस्कृत छाया—

तादृश-रूपयुतया समक-मिह विषयसेवनं युक्तम् ।

तदभावे विषयाऽऽशा विडम्बना मे प्रतिभाति ॥१७४॥

गुजराती अर्थ—

तेवा प्रकारनी रूपवती स्त्री साथे ज अहीं विषयसेवन करवु योग्य छे, तेणीना अभावमां विषयोनी आशा मने विडम्बना (रूप) ज लागे छे।

हिन्दी अनुवाद—

ऐसी रूपवती स्त्री के साथ ही विषय उपभोग करना उचित है। अन्यथा विषयों की आशा विडम्बना रूप ही है।

गाहा—

सो य कयत्थो पुरिसो लग्गज्जा जस्स कर-यले बाला ।

रंभा-गम्भ-सुकोमल-बाहु-लया हंस-गइ-गमणा ॥१७५॥

संस्कृत छाया—

स च कृतार्थः पुरुषो लगेद् यस्य करतले बाला ।

रम्भागर्भ-सुकोमल-बाहुलता हंसगतिगमना ॥१७५॥

गुजराती अर्थ—

कदलीना गर्भ जेवी सुकोमल बाहुवाळी, हंस ना गति जेवी गमनवाळी ते चाला जेना हाथ मां जशे ते पुरुष कृतार्थ थशे।

हिन्दी अनुवाद—

कदली के गर्भ जैसी सुकोमल बाहुलतावाली, हंस जैसी गतिवाली वह बाला जिसपुरुष के हाथ में जायेगी वह कृतार्थ होगा।

गाहा—

धन्नो हमित्तिएणं गहिया अंकम्मि सा मए सुतणु ।

अवगूहिया य गाढं जं न मए, वंचिओ तं तु ॥१७६॥

संस्कृत छाया—

धन्योऽहमेतावता गृहीताऽङ्गे सा मया सुतनुः ।

अवगूढा च गाढं यद् न मया वञ्चितस्तनु ॥१७६॥

गुजराती अर्थ—

अल्प समय पण में तेणीने अङ्गमा लीधी तेथी हूँ निश्चे धन्य छुं परंतु तेणीने में गाढ आलिंगन न कर्युं तेथी हुं ठगायो छुं।

हिन्दी अनुवाद—

कुछ समय मैंने उसे गोदी में लिया, अतः मैं भी निश्चित धन्य हूँ। फिर भी, गाढ आलिंगन नहीं करने से मैं ठगा गया हूँ।

गाहा—

पुणरवि हविज्ज जत्ता हत्थि-भए भूमि-निवडिया तह सा ।

धिचतूण जेण सहसा अवयासेज्जा तयं गाढं ॥१७७॥

संस्कृत छाया—

पुनरपि भवेद् यात्रा हस्तिभये भूमिनिपतिता तथा सा ।

गृहीत्वा येन सहसा श्लिष्येत् तकां गाढम् ॥१७७॥

गुजराती अर्थ—

फरी पण जो आवी यात्रा थाय तथा हाथीना भयथी ते भूमि पर पड़े तो तेने जल्दी थी लईने गाढ आलिंगन करुं।

हिन्दी अनुवाद—

फिर भी, ऐसी यात्रा हो तथा हाथी के भय से वो नीचे गिरे तो शीघ्रता से लेकर मैं गाढ आलिंगन कर लूँ।

गाहा—

एमाइ बहु-विगप्यं विचिंतयंतस्स तग्गय-मणस्स ।

निद्दाए समं राई खयं गया, उग्गओ सूरु ॥१७८॥

संस्कृत छाया-

एवमादि बहुविकल्पं विचिन्तयतस्तद्गत-मनसः ।

निद्रया समं रात्रिः क्षयं गता, उद्गतः सूरः ॥१७८॥

गुजराती अर्थ-

इत्यादि घणा विचाये ने चिंतवतो तथा तेणीने मनमां छाखते छते निद्रा साथे रात्री पूर्ण थीं अने सूर्य उग्यो!

हिन्दी अनुवाद-

इत्यादि बहुत विकल्प करते एवं बाला का मन में ध्यान करते हुए निद्रा के साथ रात बीत गई और सूर्योदय भी हो गया।

गाहा-

अह सो पहाय-समए विहिणा वंदित्तु जिण-वरं पढमं ।

चलिओ कन्ना कुल-हर-वियाणणत्थं पुराभिमुहो ॥१७९॥

संस्कृत छाया-

चित्रगति नु प्रयाण

अथ स प्रभातसमये विधिना वन्दित्वा जिनवरं प्रथमम् ।

चलितः कन्याकुलगृह-विज्ञानार्थं पुराभिमुखः ॥१७९॥

गुजराती अर्थ-

हवे ते प्रातः समये प्रथम जिनेश्वरने वन्दन करीने कन्याना पितृगृहने जाणवा माटे नगर तरफ चाल्यो।

हिन्दी अनुवाद-

अब प्रातः समय आदिनाथ प्रभु की वन्दना करके कन्या के पिता के घर को जानने के लिए नगर की ओर चला।

गाहा-

पत्तो य पुरं पिच्छइ जण-रहियं सुन्न-सयल-धवल-हरं ।

पुर-लच्छि-विप्पमुक्कं उव्वसियं अडवि-पडिरुवं ॥१८०॥

संस्कृत छाया-

प्राप्तश्च पुरं पश्यति, जनरहितं शून्य-सकल-धवलगृहम् ।

पुरलक्ष्मी-विप्रमुक्तमुदुषित-मटवी-प्रतिरूपम् ॥१८०॥

गुजराती अर्थ—

सवाटे नगर पास आवेला तेणे लोको थी रहित शून्य धवलगृहोवाळु
नगरनी शोभाथी रहित उज्जड जंगल जेवु नगर जोयु!

हिन्दी अनुवाद—

नगर के पास आते ही लोक से रहित शून्य धवलगृह और नगरलक्ष्मी की
शोभा से रहित उज्जड़ जंगल जैसा नगर देखा।

गाहा—

अह पिच्छिरुण तं सो विम्हिय-हियओ मणेण चिंतेइ ।
कत्तो हंत! अकंडे पुरमेयं उव्वसं जायं? ॥१८१॥

संस्कृत छाया—

अथ प्रेक्ष्य तत् स विस्मितहृदयो मनसा चिन्तयति ।
कस्माद् हन्त! अकाण्डे पुर-मेतदुद्भसं जातम्? ॥१८१॥

गुजराती अर्थ—

हवे आवुं आ नगर जोइने विस्मितहृदयवाळो मनथी आ प्रमाणे विचारे
छे. अरे आकस्मिकज आ नगर एकदम ज केम जंगल जेवु उज्जड थई
गयु छे।

हिन्दी अनुवाद—

नगर को ऊजड़ देखकर विस्मित हृदय से मन में सोचने लगा, अरे!
(अचानक) आकस्मिक ही यह गाँव जंगल की तरह उजाड कैसे बन गया?

गाहा—

किं होज्ज इंदयालं अहवा सच्चं हि उव्वसं एयं ।
किं कुविण सुरेणं अवहरियमिमाओ ठाणाओ ॥१८२॥
अहवा भयाओ कस्सवि नद्धो लोगो इमाओ नयराओ ।
एवं विचिंतयंतो चित्तगई पविसई जाव ॥१८३॥
तावय संमुहभित्तो एगो पुरिसो पुलोइओ तेण ।
उवयार-पुव्वयं सो महुर-गिराए इमं भणिओ ॥१८४॥

॥ तिसृभिः कुलकम् ॥

संस्कृत छाया—

किं भवेदिन्द्रजालमथवा सत्यं ह्युद्रसमेतद् ।

किं कुपितेन सुरेणापहतमस्मात् स्थानात् ॥१८२॥

अथवा भयात् कस्यापि नष्टो लोकोऽस्मान्नगराद् ।

एवं विचिन्तयन् चित्रगतिः प्रविशति यावद् ॥१८३॥

तावच्च सन्मुखमायत्रेकः पुरुषः दृष्टस्तेन ।

उपचारपूर्वकं स मधुरगिरेदं भणितः ॥१८४॥ त्रिभिः कुलकम् ॥

गुजराती अर्थ—

शुं आ इन्द्रजाल छे के साचे ज उज्जड थयु छे? अथवा कुपित थयेला देव वडे आ स्थान हरायुं छे?

अथवा कोईना भयथी आ नगरथी लोको भागी गया छे? स प्रमाणे विचारतो चित्रगति ज्यांसुधी नगरमां प्रवेशे छे.

तेटलीवारमां सन्मुख आवतो एक पुरुष तेणे जोयो, विनयपूर्वक मधुरवाणी वडे तेणे आ प्रमाणे कहयुं।

हिन्दी अनुवाद—

क्या यह इन्द्रजाल है कि सच में ही उजड़ (बन गया) है? अथवा कुपित देव द्वारा यह स्थान लोक से अपहरित कर लिया गया है।

अथवा किसी के भय से नगर के लोग भाग गये हैं? इस प्रकार सोचता हुआ चित्रगति नगर में प्रवेश करता है।

उसी वख्त सन्मुख आते हुए एक आदमी को देखा और विनयपूर्वक मधुरवाणी से इस प्रकार कहा—

गाहा—

भद्र-मुह! किं निमित्तं उव्वसियं पुर-वरं इमं सहसा ।

तत्तो य तेण भणियं साहिज्जंतं निसामेहि ॥१८५॥

संस्कृत छाया—

हे भद्रमुख! किं निमित्त-मुदुषितं पुरवरमिदं सहसा ।

ततश्च तेन भणितं कथ्यमानं निशामय ॥१८५॥

गुजराती अर्थ—

हे सुन्दर! मुखवाळा 'क्या कारणे आ नगर एकदम ज उज्जड थयु छे.' त्याचे तेणे कहयुं तमे सांभळो हुं कहुं छुं।

हिन्दी अनुवाद—

हे सुन्दर! किस हेतु से यह नगर सहसा ऊजड़ बन गया है? तब उसने कहा— आप सुनिये मैं कहता हूँ।

कनकप्रभ विद्याधरेन्द्र

गाहा—

ताव सुप्रसिद्धमेयं विज्जा-पन्नत्ति-गव्विओ सूरु ।

पालइ पुर-वरमेयं कणगपहो खयर-रायत्ति ॥१८६॥

संस्कृत छाया—

तावत् सुप्रसिद्ध-मेतद् विद्याप्रज्ञप्ति-गर्वितशूरुः ।

पालयति पुरवरमेतत् कनकप्रभः खचरराज इति ॥१८६॥

गुजराती अर्थ—

‘प्रज्ञप्तिविद्याथी गर्वित, शूरवीर, सुप्रसिद्ध खेचरेन्द्र कनकप्रभ नाम्नी राजा आ नगरनुं पालन करतो हतो ।

हिन्दी अनुवाद—

प्रज्ञप्ति विद्या से गर्वित, शूरवीर, सुप्रसिद्ध खेचरेन्द्र कनकप्रभ राजा इस नगर पर शासन करता था।

गाहा—

जलणप्पहस्स जेडुस्स भाउणो पिउ-विदिन्न-रज्ज-पयं ।

उद्दालिऊण जेणिह अहिट्टियं अप्पणा चेव ॥१८७॥

संस्कृत छाया—

ज्वलनप्रभस्य ज्येष्ठस्य भ्रातुः पितृवितीर्ण-राज्यपदम् ।

आच्छिद्य येनेहाधिष्ठित-मात्मना एव ॥१८७॥

गुजराती अर्थ—

मोट भाई ज्वलनप्रभ-नु पिता र आपेल राज्यपद झूटवीने पोते अहिं अधिष्ठित थयो!

हिन्दी अनुवाद—

पिता द्वारा बड़े भाई ज्वलनप्रभ को दिए हुए राज्य को छीनकर स्वयं मालिक बन गया।

गाहा—

नीसारिओ य भाया जिद्धो ससुरस्स सो गओ नयरे ।
एसोवि इमम्मि पुरे अच्छइ रज्जं अणुहवंतो ॥१८८॥

संस्कृत छाया—

निस्सारितश्च भ्राता ज्येष्ठः श्वशुरस्य स गतो नगरे ।
एषोऽप्यस्मिन् पुरे आस्ते राज्यमनुभवन् ॥१८८॥

गुजराती अर्थ—

काढी मुकायेल मोटे भाई ससराना नगरमां गयो अने राज्यने
अनुभवतो नानो भाई आ नगरमां रहयो ।

हिन्दी अनुवाद—

बाहर निकाल दिया गया बड़ा भाई श्वसुर के गाँव में गया और छोटा भाई
राज्य करते हुए नगर में रहा।

गाहा—

ससुरेण भाणुगइणा किल विज्जा रोहिणी उ से दिन्ना ।
सो साहिउं पयत्तो सिद्धं च इमस्स विज्जाए ॥१८९॥

संस्कृत छाया—

श्वशुरेण भानुगतिना किल विद्या रोहिणी तु तस्मै दत्ता ।
स साधयितुं प्रवृत्तः शिष्टं चास्य विद्यया ॥१८९॥

गुजराती अर्थ—

भानुगति ससर ए तेने रोहिणीविद्या आपी छे अने ते विद्या ज्वलनप्रभ
हमणा साधवा माटे तैयार थयो छे, तेम प्रज्ञप्ति विद्या ए कनकप्रभने कहयुं।

हिन्दी अनुवाद—

भानुगति ससुर जी ने उसे रोहिणीविद्या दी और ज्वलनप्रभ उस विद्या को
सिद्ध करने के लिए तैयार हुआ है। ऐसा प्रज्ञप्तिविद्या ने कनकप्रभ से कहा।

गाहा—

तत्तो तव्विग्घट्टा राया कणगप्पहो गओ तत्थ ।
न य खोभिओ स तेणं मणेण भीओ तओ एसो ॥१९०॥

संस्कृत छाया—

ततस्तद् विघ्नार्थं राजा कनकप्रभो गतस्तत्र ।
न च क्षोभितः स तेन मनसा भीतस्तत एषः ॥१९०॥

गुजराती अर्थ—

त्याच पछी तेने विघ्न करवा माटे राजा कनकप्रभ त्यां गयो. ते मोटे भाई क्षुभित न थयो आथी ते कनकप्रभ मनथी उरी गयो।

हिन्दी अनुवाद—

उसके बाद उसको विघ्न करने के लिए कनकप्रभ वहाँ गया, तथा बड़े भाई को निश्चल देखकर कनकप्रभ भयभीत हो गया।

गाहा—

निय-नयराभिमुहेणं आगच्छंतेण अन्न-चित्तेण ।

कहवि हु पमाय-वसओ जिण-भवणं लंघियमणेण ॥१९१॥

संस्कृत छाया—

निजनगराभिमुखेनाऽऽगच्छताऽन्यचित्तेन ।

कथमपि खलु प्रमादवशतो जिनभवनं लङ्घितमनेन ॥१९१॥

गुजराती अर्थ—

अन्य चित्तवडे पोताना नगद तदफ आवता प्रमाद वश थी कोइ पण चीते आना वडे जिनभवन ओळंगाटु!

हिन्दी अनुवाद—

अन्य मनस्क होकर अपने गाँव की ओर जाते प्रमादवश इसके द्वारा जिनभवन का उल्लंघन हो गया।

गाहा—

पुवं धरणिंदणं एसो समओ कओ नहयराण ।

जिण-भवण-साहु-पडिमाण लंघणं एत्थ जो काही ॥१९२॥

तस्स खयराहमस्स ओ^१ विज्जा-च्छेओ भविस्सई सहसा ।

एवं वेयङ्क-नगे अइविदियं सयल-खयराण ॥१९३॥ युग्मम् ॥

संस्कृत छाया—

पूर्वं धरणेन्द्रेणैष समयः कृतो नभश्चराणाम् ।

जिनभवन-साधुप्रतिमानां लङ्घनमत्र यः करिष्यति ॥१९२॥

तस्य खचराधमस्य ओ! विद्याच्छेदो भविष्यति सहसा ।

एवं वैताड्यनगरेऽतिविदितं सकल खचराणाम् ॥१९३॥ युग्मम् ॥

१. ओ इति सूचने

गुजराती अर्थ—

पहेला धरणेन्द्रवडे खेचरो माटे आ मर्यादा कचरयी हती. अहीं जे कोई भी जिनभवन अने साधु नी प्रतिमानुं उल्लंघन करशे।

ते खेचराधमनी विद्या नो नाश तचत ज थई जशे. आ प्रमाणे नो नियम वैताढ्यनगरमां बधा खेचरो साची चीते जाणे छे.

हिन्दी अनुवाद—

पहले धरणेन्द्र द्वारा खेचरों के लिए नियम किया गया था 'यहाँ जो कोई भी जिनभवन या साधु प्रतिमा का उल्लंघन करेगा।

उस खेचराधम की विद्या तत्काल नष्ट हो जायेगी। इस नियम से वैताढ्यन पर्वत के सभी खेचरलोग ज्ञात (परिचित) हैं।

गाहा—

तत्तो इमस्स रत्तो जिण-भवणं लंघियंति रुद्रेण ।

धरणेण तक्खणिच्चिय विज्जा-च्छेओ कओ भद्र! ॥१९४॥

संस्कृत छाया—

ततोऽस्य राज्ञो जिनभवनं लङ्घित-मिति रुद्रेण ।

धरणेन तत्क्षण एव विद्याच्छेदः कृतो भद्र! ॥१९४॥

गुजराती अर्थ—

हे भद्र! हमणा आ राजा वडे जिनभवन ओळंगायु आधी रुष्ट थयेला धरणेन्द्रे ते ज क्षणे (तेनी) विद्या नो छेद कर्यो।

हिन्दी अनुवाद—

हे भद्र! अभी राजा द्वारा जिनभवन का उल्लंघन हुआ है, अतः रुष्ट धरणेन्द्र ने उसी क्षण (उसकी) विद्या का छेद कर दिया।

गाहा—

जलणप्पहस्स विज्जा सिद्धत्ति वियाणिऊण कणगपहो ।

विज्जा-रहिओ इहयं ठाउमसत्तोत्ति अह नट्ठो ॥१९५॥

संस्कृत छाया—

ज्वलनप्रभस्य विद्यासिध्येति विज्ञाय कनकप्रभः ।

विद्यारहित इह स्थातु-मशक्त इत्यथ नष्टः ॥१९५॥

गुजराती अर्थ-

ज्वलनप्रभ ने विद्यासिद्ध थई छे आ प्रमाणे जाणी ने विद्यारहित कनकप्रभ अहीं रहेवा माटे अशक्त थयेल खवो ते (अहीं थी) भागी गयो।

हिन्दी अनुवाद-

अब ज्वलनप्रभ की विद्या सिद्ध हो गई है ऐसा जानकर, यहाँ रहने में असमर्थ विद्याविहीन कनकप्रभ यहाँ से भाग गया।

गाहा-

गंगावत्तम्मि गओ भय-भीओ दक्खिणाए सेढीए ।

सिरि-गंधवाहणस्स ओ सरणं सह नाइ-वग्गेणं ॥१९६॥

संस्कृत छाया-

गङ्गावर्ते गतो भयभीतो दक्षिणस्यां श्रेण्याम् ।

श्रीगन्धवाहनस्य ओ। शरणं सह ज्ञातिवर्गेण ॥१९६॥

गुजराती अर्थ-

भयथी डरेलो ते स्वजनवर्ग सहित दक्षिण श्रेणीमां गङ्गावर्तमां श्रीगन्धवाहन राजाना शरणे गयो।

हिन्दी अनुवाद-

भय से डरा हुआ कनकप्रभ राजा स्वजन वर्ग सहित दक्षिण श्रेणि में गङ्गावर्त गाँव के राजा श्रीगन्धवाहन के शरण में गया।

गाहा-

नारुण वड्यरमिणं खुहिओ सव्वोवि नायरो लोगो ।

पहु-रहिओ भय-भीओ अवरोप्परमेवमुल्लवइ ॥१९७॥

संस्कृत छाया-

ज्ञात्वा व्यतिकर-मिदं क्षुभितः सर्वोऽपि नागरो लोकः ।

प्रभुरहितो भयभीतः परस्परमेव-मुल्लपति ॥१९७॥

गुजराती अर्थ-

आ प्रमाणे नी हकिकत जाणीने सर्वे पण नगरवासी लोक क्षोभ पाव्यो अने स्वामी रहित भयभीत थयेलो परस्पर आ प्रमाणे खोलवा लाग्यो।

हिन्दी अनुवाद—

इस प्रकार की हकीकत जानकर सभी (नगर जन) क्षुभित हुए तथा भयभीत एवं अनाथ हुए (जानकर) इस प्रकार बोलने लगे।

गाहा—

अम्हाण पहू नट्टो न य सक्कइ वासिउं पुरं एयं ।
तेण विणा ता अम्हं न जुत्तमिह अच्छिउं इण्हिं ॥१९८॥

संस्कृत छाया—

अस्माकं प्रभु नष्टो न च शक्यते वासयितुं पुर-मेतद् ।
तेन विना तस्मादस्माकं न युक्तमत्र-आसितुमिदानीम् ॥१९८॥

गुजराती अर्थ—

आपणा स्वामी जता रहयां छे हवे आ नगर वसाववु शक्य नथी तेथी
अत्याटे ते स्वामि रहित आपणे अहीं रहेवुं योग्य नथी।

हिन्दी अनुवाद—

अपने स्वामी चले गये हैं, अतः अब यह नगर बसाना उचित नहीं है।
इस हेतु से स्वामी रहित अपने को यहाँ रहना ठीक नहीं है।

गाहा—

को कुणइ अम्ह रक्खं एत्थ वसंताण नाह-रहियाण ।
सव्वेसिं तेण उचियं पुरमेयं उज्झिउं सिग्घं ॥१९९॥

संस्कृत छाया—

कः करोत्यस्माकं रक्षा-मत्र वसतां नाथरहितानाम् ।
सर्वेषां तेनोचितं पुरमेतदुज्झितुं शीघ्रम् ॥१९९॥

गुजराती अर्थ—

नाथरहित रहेता आपणी अहींया कोण रक्षा कटे? तेथी च्छाए आ
नगर नो जल्दीथी त्याग करवो योग्य छे।

हिन्दी अनुवाद—

अनाथ जैसे अपनी यहाँ कौन रक्षा करेगा? अतः जल्दी से यह नगर सभी
को छोड़ना चाहिए।

गाहा—

एवं विणिच्छियम्मी (म्पि?) नयर-महंतेहिं मंत-कुसलेहिं ।
सव्वोवि जणो नट्टो जायं अह सुन्नयं नयरं ॥२००॥

संस्कृत छाया—

एवं विनिश्चिते नगर-महद्धर्मन्त्रकुशलैः ।

सर्वोऽपि जनो नष्टो जातमथ शून्यकं नगरम् ॥२००॥

गुजराती अर्थ—

आ प्रमाणे सज्जनो तथा मन्त्रकुशल (विचारवामांकुशल) पुरुषोऽपि निश्चय कर्ये छते ह्यथा ज लोको जता रहयां, आथी आ नगर शून्य छे।

हिन्दी अनुवाद—

इस प्रकार सज्जन और मन्त्रकुशल लोगों द्वारा परस्पर निश्चय करने पर सभी लोग चले गये। इसीलिए यह नगर शून्य हो गया है।

गाहा—

आसज्ज कारणमिणं उव्वसियं तेण पुर-वरं एयं ।

चित्तगई भणइ तओ कत्थ गओ सो जणो भद्र! ॥२०१॥

संस्कृत छाया—

आसाद्य^१ कारणमिद-मुदुषितं तेन पुरवर-मेतद् ।

चित्रगतिर्भणति ततः कुत्र गतः स जनो भद्र! ॥२०१॥

गुजराती अर्थ—

उज्जड़ बनेला नगर नुं कारण तेनी पासे थी जाणीने चित्रगति कहे छे. हे भद्र! ते लोको क्या गया?

हिन्दी अनुवाद—

ऊजड़ हुए नगर का वर्णन उनके पास से जानकर चित्रगति ने कहा—
'हे भद्र! बाद में वे सभी लोग कहाँ गये?'

गाहा—

तत्तो य तेण भणियं कोवि जणो गयण-वल्लहे नयरे ।

कोवि गओ विजयपुरे कोवि हु इह वेजयंतम्मि ॥२०२॥

संस्कृत छाया—

ततश्च तेन भणितं कोऽपि जनो गगनवल्लभे नगरे ।

कोऽपि गतो विजयपुरे कोऽपि खल्विह वैजयन्ते ॥२०२॥

गुजराती अर्थ—

त्याचे तेणे कहयुं. केटलाक गगनवल्लभ नगरमां, केटलाक विजयपुरमां
अने केटलाक आ वैजयंतमां गया छे।

हिन्दी अनुवाद—

तब उसने कहा— कुछ लोग गगनवल्लभ में, विजयपुर में और कुछ लोग
यहाँ वैजयंत में गये हैं।

गाहा—

सत्तुंजयम्मि कोवि हु अरिंजए कोवि तह गओ लोओ ।
अन्नो नंदण-नयरे अवरो विमलम्मि नयरम्मि ॥२०३॥

संस्कृत छाया—

शत्रुञ्जये कोऽपि खल्वरिञ्जये कोऽपि तथा गतो लोकः ।
अन्यो नन्दनगरेऽपरो विमले नगरे ॥२०३॥

गुजराती अर्थ—

केटलाक शत्रुञ्जय पर, तेम ज केटलाक अरिंजयमां, चीजा केटलाक
नन्दननगरमां, वळी केटलाक विमलनगरमां गया।

हिन्दी अनुवाद—

कुछ लोग शत्रुञ्जय पर तथा अरिंजय में, कुछ लोग नन्दननगर में तथा
दूसरे कुछ लोग विमलनगर में गये हैं।

गाहा—

रहनेउरम्मि कोवि हु आणंदपुरम्मि अरिंजए कोवि ।
सगडामुहम्मि कोवि हु पुरीए तह वैजयंतीए ॥२०४॥

संस्कृत छाया—

रथनूपुरे कोऽपि खल्वानन्दपुरेऽरिञ्जये कोऽपि ।
शकटामुखे कोऽपि खलु पुर्या तथा वैजयन्त्याम् ॥२०४॥

गुजराती अर्थ—

केटलाक रथनूपुरमां केटलाक आनंदपुरमां, वळी केटलाक अरिंजयमां,
वळी केटलाक शकटामुखमां, तथा वैजयन्ती पुरमां गया।

हिन्दी अनुवाद—

कुछ लोग रथनूपुर में, कुछ आनंदपुर में, कुछ शकटमुख में, कुछ अरिजय में, पुनः कुछ लोग वैजयंती नगर में गये।

गाहा—

कोवि हु रयणपुरम्मि सिरिनयरे रयणसंचये कोवि ।

नयरम्मि जलावत्ते कोवि गओ संखनाभम्मि ॥२०५॥

संस्कृत छाया—

कोऽपि खलु रत्नपुरे श्रीनगरे रत्नसञ्चये कोऽपि ।

नगरे जलावर्ते कोऽपि गतः शङ्खनाभे ॥२०५॥

गुजराती अर्थ—

कोईक रत्नपुरमां, कोईक श्रीनगरमां, केटलाक रत्नसञ्चयमां, कोईक जलावर्तनगरमां, कोईक शंखनाभमां गया।

हिन्दी अनुवाद—

कुछ लोग रत्नपुर में, कुछ श्रीनगर में, कुछ लोग रत्नसंचय में, कुछ लोग जलावर्त नगर में, तथा कुछ लोग शंखनाभ नगर में गये।

गाहा—

अवरावर-नयरेसुं षडिवक्ख-समासएण पुर-लोओ ।

सव्वोवि हु विक्खरिओ सत्तुय-पुंजो व्व वाय-हओ ॥२०६॥

संस्कृत छाया—

अपरापर-नगरेषु प्रतिपक्ष-समाश्रयेण पुरलोकः ।

सर्वोऽपि खलु विकीर्णः सत्तुक-पुञ्ज इव वातहतः ॥२०६॥

गुजराती अर्थ—

आ प्रमाणे शत्रुना भयथी पोताना आश्रयने ईच्छता च्छा नगरलोकी वायुथी हणायेल शत्रुना पुञ्जनी जेम चीजा चीजा नगरमां विखराई गया।

हिन्दी अनुवाद—

इस प्रकार शत्रु के भय से अपने आश्रय को चाहते सभी नगरलोक वायु से आहत सक्तु के पुञ्ज की तरह अन्यान्य गाँव में बिखर गये हैं।

गाहा—

एवं भणिरूण नरो विहिय-पणामो स गंतुमारब्धो ।
चित्तगईवि य ताहे सोच्चा तव्वयणयं सहसा ॥२०७॥
पहउ व्व मोग्गरेणं गिलिओ इव रक्खसेण खुहिएण ।
वज्जेण ताडिओ इव दुक्खं अइदूसहं पत्तो ॥२०८॥ युग्मम् ॥

संस्कृत छाया—

एवं भणित्वा नरो विहित-प्रणामः स गन्तु-मारब्धः ।
चित्रगतिरपि च तदा श्रुत्वा तद्वचनकं सहसा ॥२०७॥
प्रहत इव मुद्गरेण गिलित इव राक्षसेन क्षुधितेन ।
वज्रेण ताडित इव दुःखमतिदुस्सहं प्राप्तः ॥२०८॥ युग्मम् ॥

गुजराती अर्थ—

ए प्रमाणे कहीने करेला नमस्कारवाळो ते माणस जवा माटे तैयार थयो, त्याचे तेना वचन सांभळी ने चित्रगति पण एकदम मुद्गरथी हणायेलानी जेम भूख्या राक्षस वडे कोळीयो कणायेला नी जेम वज्रथी ताडन कणायेलानी जेम अति दुस्सह दुःखने पाम्यो।

हिन्दी अनुवाद—

इस प्रकार बोलकर नमस्कार करके वह आदमी जाने को तैयार हुआ तब उसका कहना सुनकर चित्रगति भी सहसा मुद्गर से मारे गए की तरह, भूखे राक्षस से कवलित की भाँति, अति दुःसह दुःख को पाया।

गाहा—

अह चिंतिउं पयत्तो दडुव्वा कत्थ सा मए बाला ।
मह हियय-कयाणंदा एवं विहियम्मि हय-विहिणा? ॥२०९॥

संस्कृत छाया—

अथ चिन्तयितुं प्रवृत्तो, द्रष्टव्या कुत्र सा मया बाला ।
मम हृदयकृतानन्दा एवं विहिते हत-विधिना? ॥२०९॥

गुजराती अर्थ—

हवे ते विचारवा लाग्यो, माया हृदयने आनंद आपनाए ते चाला ने माटे
क्यां जोवी? विधि वडे आ प्रमाणे विपरीत थये छते हवे शुं कएवु?

हिन्दी अनुवाद—

अब वह सोचने लगा मेरे दिल को आनन्द देनेवाली उस बाला को मैं
कहाँ देखूँ। विधि रुष्ट होने पर मैं क्या कर सकूँगा?

गाहा—

एत्यवि नयरे तीए कुल-कोडि-समाउलम्मि विउलम्मि ।

दंसणमवि अइदुलहं अविद्याणिय-कुल-हराए उ ॥२१०॥

संस्कृत छाया—

अत्रापि नगरे तस्याः कुलकोटि-समाकुले विपुले ।

दर्शनमप्यतिदुर्लभ-मविज्ञात-कुलगृहायास्तु ॥२१०॥

गुजराती अर्थ—

वळी कोटि जातिकुलोथी व्याप्त, विशाल वस्तीथी भरपूर खा आ
नगरमां अजाण्या कुल तथा घर वाळी ते चाळानुं दर्शन पण अतिदुर्लभ छे।

हिन्दी अनुवाद—

कोटि जातिकुलो से व्याप्त, विशाल बस्ती से भरपूर, इस नगर में अनजाने
कुल तथा घरों में उस बाला का दर्शन भी अतिदुर्लभ है।

गाहा—

इण्हं पुण नाणाविह-नयरेसुं पवसियम्मि लोयम्मि ।

दइयाए पउत्तीयवि वियाणणे संभवो नत्थि ॥२११॥

संस्कृत छाया—

इदानीं पुनर्नानाविध-नगरेषु प्रोषिते लोके ।

दयितायाः प्रवृत्तेरपि विज्ञाने सम्भवो नास्ति ॥२११॥

गुजराती अर्थ—

वळी अत्याए विविध नगरमां लोक गये छते तेणी ने शोधवाथी पण
जाणकारी मळवी असंभव छे।

हिन्दी अनुवाद—

अभी तो सभी नगर के लोग भिन्न-भिन्न गाँव में चले गये हैं। अतः प्रिया को ढूँढने पर भी पता लगेगा यह संभवित नहीं।

गाहा—

ता किं करेमि इण्हि हय-विहिणा विहडियम्मि एयम्मि ।

लब्धिज्ज कह पउत्ती कह वा मह दंसणं होज्जा? ॥२१२॥

संस्कृत छाया—

तस्मात् किं करोमीदानीं हतविधिना विघटिते एतस्मिन् ।

लभ्येत कथं प्रवृत्तिः? कथं वा मम दर्शनं भवेत्? ॥२१२॥

गुजराती अर्थ—

भाग्यहीन विधि वड़े आ प्रमाणे कराये छते हुं शुं कछं? समजातु नथी, तेणीनी भाळ केवी चीते मेळववी? अथवा मने तेणीना दर्शन केवी चीते थरो?

हिन्दी अनुवाद—

भाग्य रुष्ट होने पर भाग्यहीन मैं क्या करूँ? कुछ समझ में नहीं आता है। उस बाला का पता कैसे लगाऊँ? अथवा उसके दर्शन मुझे कैसे होंगे? (या नहीं)।

गाहा—

को पुच्छिज्जउ नामं को मह साहिज्ज कुल-हरं तीए? ।

जत्थ गया मम दइया अक्खिज्जा पुर-वरं को तं? ॥२१३॥

संस्कृत छाया—

कः पृच्छयेत नाम? को मह्यं कथयेत् कुलगृहं तस्याः ?

यत्र गता मम दयिताऽऽख्यायात् पुरवरं कस्तम् ॥२१३॥

गुजराती अर्थ—

हवे हुं कोने पूछुं? तथा तेणीनुं कुल पण मने कोण कहे? अथवा जे नगरमां माची दयिता गई छे ते नगरनु नाम पण कोण कहे?

हिन्दी अनुवाद—

अब मैं किसे पूछुं? उसका कुल भी मुझे कौन कहेगा? अथवा जिस नगर में मेरी प्रिया गई है उस नगर का नाम भी मुझे कौन कहेगा?

गाहा—

कह व तुडि-जोगओ सा दिड्ढा अम्हेहिं हय-विहि-निओगा? ।
इण्हं पुण दड्ढवा को जाणइ कत्थ व न वत्ति? ॥२१४॥

संस्कृत छाया—

कथं वा त्रुटियोगतः सा दृष्टा अस्माभिर्हतविधिनियोगात्? ।

इदानीं पुन द्रष्टव्या को जानाति कुत्र वा न वेति ? ॥२१४॥

गुजराती अर्थ—

अथवा भाग्यदोषने कारणे भूलथी तेणी अमाद्यवडे केम जोवाइ गइ।
हवे कोण जाणे तेणीने क्यांय जोइ शकाय के नही जोइ शकाय।

हिन्दी अनुवाद—

अथवा दुर्भाग्य से गलती से वह बाला हमारे द्वारा क्यों देखी गई, अब
कौन जाने उसे कहीं देख सकेंगे या नहीं देख सकेंगे।

गाहा—

तीए नामक्खराइं विरह-पिसायस्स मंत-भूयाइं ।

सुइ-गोयरं गयाइं न मज्झ हा! कत्थ वच्चामि? ॥२१५॥

संस्कृत छाया—

तस्या नामाक्षराणि विरहपिशाचस्य मन्त्रभूतानि ।

श्रुतिगोचरं गतानि न मे हा! कुत्र व्रजामि? ॥२१५॥

गुजराती अर्थ—

विरहरूपि पिशाचने माटे मन्त्र समान तेणीना नामाक्षरो मने संभळाय्या
नही, हा! हवे हुं क्यां जउं।

हिन्दी अनुवाद—

विरहरूपी पिशाच को शांत करने के लिए मन्त्र समान उनके नामाक्षर
भी मेरे श्रुति का विषय नहीं बना, अरे! भाग्य! अब मैं कहाँ जाऊँ?

गाहा—

हा! हियय! कास झूरसि? निब्बंधं मुंच तम्मि लोयम्मि ।

अज्जवि का तुह आसा ठाणंपि अयाणमाणस्स? ॥२१६॥

संस्कृत छाया—

हा! हृदय! कस्मात् स्मरसि? निर्बन्धं मुञ्च तस्मिन् लोके ।
अद्यापि का तवाऽऽशा स्थानमप्यजानानस्य ॥२१६॥

गुजराती अर्थ—

हे हृदय! तू केम स्मरण करे छे? आग्रह ने छोड़? ते लोकमां तेणीना
स्थान ने पण नहीं जाणता सवा तांरे कई आशा छे?

हिन्दी अनुवाद—

हे हृदय! तु बारबार क्यों याद करता है? आग्रह को छोड़ दे, उस लोक
में उसका स्थान भी नहीं जानता, तुझे और कौन-सी आशा है?

गाहा—

अविय जई डज्जसि तदा ता डज्जसु कुट्टसि हे हियय! न हु निवारेमि ।
दइयाए जं पउत्तीवि दुल्लहा संपयं जाया ॥२१७॥

संस्कृत छाया—

अपि च यदि दहसि तदा दह कुट्टयसि हे हृदय! न खलु निवारयामि।
दयिताया यत् प्रवृत्तिरपि दुर्लभा साम्प्रतं जाता ॥२१७॥

गुजराती अर्थ—

वळी हे हृदय! तांरे चळवु होय तो चळ? कुटवु होय तो कुट हुं तने
ऐकीश नहीं। कारण के, मांरी पत्नीनी शोध पण अत्यांटे दुर्लभ थई छे।

हिन्दी अनुवाद—

पुनः हे हृदय! तुझे जलना हो तो जल, कूटना हो तो कूट। मैं तुझे
रोकूंगा नहीं! क्योंकि मेरी पत्नी का पता भी अभि दुर्लभ है।

गाहा—

अहवा किं इमिणा चिंतिण अइगरुय-विसाय-गम्भेण ।
अवलंबिय धीरत्तं किंचि उवायं विचिंतेमि ॥२१८॥

संस्कृत छाया—

अथवा किमनेन चिन्तितेनाऽतिगुरुकविषादगर्भेण ।
अवलम्ब्य धीरत्वं किञ्चिदुपायं विचिन्तयामि ॥२१८॥

गुजराती अर्थ—

अथवा अत्यंत दुःखवाळा आ विचार वडे सय्यु? हवे धीरज धारण करीने कोईक उपाय ने विचारुं।

हिन्दी अनुवाद—

अथवा असह्य विषादयुक्त विचारों से क्या फायदा? अब धैर्य को धारण करके कुछ उपाय सोचूं।

गाहा—

जेण उवाय-पयट्टा पुरिसा पाविंति इच्छियं अत्थं ।

सुम्मइ लोयम्मि जओ लब्भइ सुविणं सुयंतेहिं ॥२१९॥

संस्कृत छाया—

येनोपायप्रवृत्ताः पुरुषाः प्राप्नुवन्तीष्टमर्थम् ।

श्रूयते लोके यतो लभ्यते स्वप्नं स्वपद्भिः ॥२१९॥

गुजराती अर्थ—

कारणके लोकमां कहेवत छे के, जेम सूतेला माणस वडे स्वप्न प्राप्त कछाय छे तेम उपायोमां प्रवृत्त पुरुषोवडे इच्छित मेळवाय छे।

हिन्दी अनुवाद—

क्योंकि लोक में श्रुति है कि, जैसे सोया हुआ आदमी स्वप्न देखता है, ठीक उसी तरह उपायों में प्रवृत्त पुरुष ही इच्छित को पाता है।

गाहा—

एसो य इह उवाओ भमामि सव्वेसु खयर-नयरेसु ।

मा कहय कोवि कत्थवि तीए पउत्तिंपि साहिज्जा ॥२२०॥

संस्कृत छाया—

एष चेहोपायो भ्राम्यामि सर्वेषु खचरनगरेषु ।

मां कथं च कोऽपि कुत्रापि तस्याः प्रवृत्तिमपि कथयेत् ॥२२०॥

गुजराती अर्थ—

अहीं आ उपाय छे, हूँ सर्व खेचर नगरे मां भ्रमू, तेथी तेणीनी भ्राळ कहेनाए कथाय पण कोई पण चीते मळी जाय।

हिन्दी अनुवाद—

यहाँ एक उपाय है कि मैं सभी खेचर नगरो में फिरूँ, अतः कभी कहीं पर कोई आदमी मेरी उस प्रिया का समाचार देनेवाला मिल जाये।

गाहा—

दासिज्ज अहव सक्खा परिब्भयंतेहि कम्मिवि पुरम्मि ।

चंदमुही सा बाला, तहा यं अइसुंदरं चेव ॥२२१॥

संस्कृत छाया—

दृश्येताऽथवा साक्षात् परिभ्राम्यद्भिः कस्मिन्नपि पुरे ।

चन्द्रमुखी सा बाला तथा चातिसुन्दरमेव ॥२२१॥

गुजराती अर्थ—

अथवा भ्रमता एवा माया वड़े कोईक नगरमां ते चन्द्रमुखी बाला जो साक्षात् जोवाय तो अतिसुन्दर थाय।

हिन्दी अनुवाद—

अथवा घूमते हुए मुझे किसी नगर में उस चन्द्रमुखी बाला का साक्षात् दर्शन हो जाये, तो अतिसुन्दर (कार्य) होगा।

गाहा—

एवं विणिच्छियत्थो सो हं भो चित्तवेग! चित्तगई! ।

दइया-विओय-गुरु-दुवखा-वज्ज-निहलिय-मण-सेलो ॥२२२॥

संस्कृत छाया—

एवं विनिश्चितार्थः सोऽहं भोश्चित्तवेग! चित्रगतिः ।

दयिता-वियोग-गुरुदुःख-वज्र-निर्दलित-मनः-शैलः ॥२२२॥

गुजराती अर्थ—

हे चित्रवेग! आ प्रमाणे निश्चय करेला अर्थवाळो, तथा पत्निना वियोग ना भारे दुःख रूपी वज्र थी भेदायेल मनरूपि पर्वतवालो तें हूं चित्रगति छुं।

हिन्दी अनुवाद—

हे चित्रवेग! इस प्रकार निश्चित अर्थवाला, पत्नी के वियोग के दुःखात्मक वज्र से भेदा हुआ मन रूपी पर्वत वाला मैं चित्रगति हूँ।

गाहा—

परिचत्त-बंधु-वग्गो अह गुरु-अणुराय-परवसो तत्तो ।
एगागी वेयङ्गे उत्तर-सेढीए नयरेसु ॥२२३॥
सव्वेसुवि परिभमिओ न य लब्धा तीए कत्थवि पउत्ती ।
तत्तो य दक्खिणाए सेणीए आगओ अहयं ॥२२४॥ युग्मम् ॥

संस्कृत छाया—

परित्यक्त-बन्धुवर्गोऽथ गुर्वनुराग-परवशस्ततः ।
एकाकी वैताढ्ये उत्तरश्रेण्यां नगरेषु ॥२२३॥
सर्वेष्वपि परिभ्रान्तो न च लब्धा तस्याः कुत्रापि प्रवृत्तिः ।
ततश्च दक्षिणस्यां श्रेण्यामागतोऽहम् ॥२२४॥ युग्मम् ॥

गुजराती अर्थ—

त्याए पछी भाटे अनुरागथी परवश थयेली, त्याग करेला स्वजन वर्गवाळो, एकाकी वैताढ्य नी उत्तरश्रेणी ना नगरोमां, छे ज भ्रमण करतो तेणीनी भाळ क्याय पण न मळी, आथी पछी हु दक्षिणश्रेणीमां आव्यो।

हिन्दी अनुवाद—

तत्पश्चात् अति अनुराग से परवश हुआ, स्वजन वर्ग को त्याग करके एकाकी वैताढ्य की उत्तरश्रेणी के नगरों में घूमते हुए उस बाला का कहीं भी पता नहीं लगने से बाद में मैं दक्षिणश्रेणी में आया।

गाहा—

तत्थवि पुरेसु केसुवि आहिंडिय इच्छियं अपावित्तो ।
अज्ज पुणो इह पत्तो तुह नयरे कुंजरावत्ते ॥२२५॥

संस्कृत छाया—

तत्रापि पुरेषु केष्वपि आहिण्ड्येष्टमप्राप्नुवन् ।
अद्यपुनरिह प्राप्तस्तव नगरं कुञ्जरावर्तम् ॥२२५॥

गुजराती अर्थ—

त्यां पण केटलाक नगरो मां भमी ने इच्छित ने नहीं प्राप्त करतो, वळी अत्याटे ताए कुञ्जरावर्त नगरमां अहीं आव्यो छुं।

हिन्दी अनुवाद—

वहाँ भी इस दक्षिणश्रेणि में कई (सारे) नगर में घूमते हुए वाञ्छित की अप्राप्ति से अभी तेरे कुञ्जरावर्त नगर में आया हूँ।

गाहा—

एयम्मि य उज्जाणे मह पविस्संतस्स सोहणो सउणो ।
संजाओ तह फुरिया दाहिण-बाहू तहा नयणं ॥२२६॥

संस्कृत छाया—

एतस्मिंश्चोद्याने मम प्रविशतः शोभनः शकुनः ।
सञ्जातस्तथा स्फुरितौ दक्षिणाबाहुस्तथा नयनम् ॥२२६॥

गुजराती अर्थ—

अने आ उद्यानमां प्रवेश करता शुभ शुकन थया तथा जमणी आँख
अने जमणी हाथ फटकवा लाग्या।

हिन्दी अनुवाद—

यहाँ इस उद्यान में आते ही शुभ शकुन हुआ, दायीं आँख और दायीं हाथ
फरकने लगा।

गाहा—

ततो वियप्पियं मे अवस्समज्जेव होहिई तीए ।
दइयाए दंसणं, अहव किंचि अइसोहणं अन्नं ॥२२७॥

संस्कृत छाया—

ततो विकल्पितं मयाऽवश्य-मद्यैव भविष्यति तस्याः ।
दयिताया दर्शनमथवा किञ्चिदतिशोभनमन्यत् ॥२२७॥

गुजराती अर्थ—

आथी में विचार्युं अवश्य आजे ज मने तेणीना दर्शन थशे अथवा काईक
पण बीजु सारु थशे ।

हिन्दी अनुवाद—

अतः मैंने सोचा जरूर आज ही मुझे उस प्रिया के दर्शन होंगे या और
कुछ अच्छा काम होगा।

गाहा—

एवं विचिंतयंतो पत्तो हं एत्थ कयलि-गेहम्मि ।
काऊण पाय-सोयं उवविट्ठो कुट्टिमुच्छंगे ॥२२८॥

संस्कृत छाया—

एवं विचिन्तयन् प्राप्तोऽहमत्र कदलीगेहे ।
कृत्वा पादशौचमुपविष्टः कुट्टिमोत्सङ्गे ॥२२८॥

गुजराती अर्थ—

आ प्रमाणे विचारतो हूँ अहीं कदलीगृहमां (केळना घरमां) आव्यो. अने पग धोईने श्रूमितल पट चेटो।

हिन्दी अनुवाद—

इस प्रकार सोचता हुआ मैं यहाँ कदलीगृह में आया और पैर धोकर पृथ्वीतल पर बैठा।

गाहा—

ताव य खणंतराओ समागया सुयणु! मज्झ निद्वत्ति ।
सोऊण तुज्झ सहं झत्ति पबुद्धो अहं तत्तो ॥२२९॥

संस्कृत छाया—

तावच्च क्षणान्तरात् समागता सुतनो! मे निद्वेति ।
श्रुत्वा तव शब्दं झटिति प्रबुद्धोऽहं ततः ॥२२९॥

गुजराती अर्थ—

अने हे सुतनो! क्षण मां मने निद्रा आवी (गई) तेटलीवाटमां ताटा अवाज ने सांभळीने जल्दीथी हुं जागी गयो।

हिन्दी अनुवाद—

और जहां मुझे क्षण में निद्रा आई, हे सुतनु! की उतनी देर में तेरी आवाज सुनकर मैं जल्दी जग गया।

गाहा—

केण इमं उल्लवियंति चिंतिउं जा दिसाओ पुलएमि ।
ताव य तुमं हि दिट्ठो पलंबमाणो तरु-लयाए ॥२३०॥

संस्कृत छाया—

केनेदमुल्लपितमिति चिन्तयित्वा यावद् दिशः पश्यामि ।

तावच्च त्वं हि दृष्टः प्रलम्बमानस्तरुलतायाम् ॥२३०॥

गुजराती अर्थ—

कोना वडे आ प्रमाणे बोलायु आम विचारतो ज्यां सुधीमां दिशाने जीतो हतो तेदलीवारमां निश्चे तरुलतामां लटकतो तुं जोवायो।

हिन्दी अनुवाद—

इस प्रकार से कौन बोलता है, ऐसा सोचता था, इतनी देर में तरुलता में लटकते हुए तुम दिखाई दिये।

गाहा—

हा! हा! अणंग-रूवो कह णु जुवाणो विणस्सए लग्गो? ।

एवं विचिंतिऊणं हाहा-सद्दं करेमाणो ॥२३१॥

पत्तो तुज्झ समीवे छिन्नो अह पासओ मए सहसा ।

भो चित्तवेग! सेसं पच्चक्खं चेव तुह सव्वं ॥२३२॥ युग्मम् ॥

संस्कृत छाया—

हा! हा! अनङ्गरूपः कथं नु युवा विनश्यति लग्नः? ।

एवं विचिन्त्य हा! हा! शब्दं कुर्वाणः ॥२३१॥

प्राप्तस्तव समीपे छिन्नोऽथ पाशको मया सहसा ।

भोश्चित्रवेग! शेषं प्रत्यक्षमेव ते सर्वम् ॥२३२॥ युग्मम् ॥

गुजराती अर्थ—

अरे! अरे! कामदेव जेवो युवान शा माटे मरवा तैयाच थयोछे? आ प्रमाणे विचारीने हा! हा! स प्रमाणे अवाज करतो.

ताची पासे आव्यो अने माच वडे जल्दीथी पाश छेदायो, अने हे चित्रवेग! बीजु बधुं ताटे प्रत्यक्ष ज छे।

हिन्दी अनुवाद—

अरे! अरे! (अनङ्गरूप) कामदेव सदृश यह युवा क्यों मरता है? इस प्रकार सोचकर हा! हा! आवाज करते हुए तेरे पास आया और जल्दी से पाश को तोड़ दिया और हे चित्रवेग! दूसरा सभी तो तुझे प्रत्यक्ष ही है।

गाहा—

तं जं तुमए पुडं कह णु तुमं भद्र! नियय-दइयाए ।
ठाणंपि नेय जाणसि तं सव्वं साहियं एयं ॥२३३॥

संस्कृत छाया—

तद् यद् त्वया पृष्टं कथं नु त्वं भद्र! निजदयितायाः ।
स्थानमपि नैव जानासि तत्सर्वं कथित-मेतद् ॥२३३॥

गुजराती अर्थ—

ते जे मने पूछयुं के हे भद्र! तूं ताची पत्नी नुं स्थान पण शुं जाणतो
नथी? तेथी आ सर्व में तने-कहयुं।

हिन्दी अनुवाद—

तुमने मुझे पूछा कि हे भद्र! तु तेरी प्रिया का स्थान भी क्यों नहीं जानता
है? अतः मैंने तुझे यह सब कहा।

गाहा—

तो दुलहं मणुयत्तं दड्डुणं रूव-जोव्वण-समेयं ।
महिलामित्तस्स कए न हु मरणं होइ कायव्वं ॥२३४॥

संस्कृत छाया—

ततो दुर्लभं मनुजत्वं दृष्ट्वा रूपयौवन-समेतम् ।
महिला-मात्रस्य कृते न खलु मरणं भवति कर्तव्यम् ॥२३४॥

गुजराती अर्थ—

आथी रूप-यौवन युक्त दुर्लभ सवा मनुष्य भव ने जोइने (जाणीने)
मात्र स्त्री ने माटे मरवुं योग्य नथी।

हिन्दी अनुवाद—

अतः रूप यौवन से युक्त दुर्लभ ऐसे मनुष्य भव को प्राप्त करके महिला
मात्र के लिए मरना योग्य नहीं है।

गाहा—

भो चित्तवेग! जइवि हु पिय-विरहे दूसहं हवइ दुक्खं ।
उत्तम-कुल-प्पसूयाण तहवि एयं न जुत्तंति ॥२३५॥

संस्कृत छाया—

भोश्चित्रवेग! यद्यपि खलु प्रियविरहे दुस्सहं भवति दुःखम् ।

उत्तमकुलप्रसूतानां तथाप्येतन्न युक्तमिति ॥२३५॥

गुजराती अर्थ—

हे! चित्रवेग! जो के प्रिय ना विरह मां असह्य दुःख थाय छे तो पण उत्तमकुलमां उत्पन्न थयेला ने आ योग्य नथी।

हिन्दी अनुवाद—

हे चित्रवेग! यद्यपि प्रियविरह का दुःख असह्य होता है, फिर भी उत्तमकुल में उत्पन्न हुए को यह योग्य नहीं है।

गाहा—

जाणामि अहंपि इमं मण-वल्लह-माणुसस्स विरहम्मि ।

नरए नेरइयस्स व उप्पज्जइ दारुणं दुक्खं ॥२३६॥

संस्कृत छाया—

जानाम्यहमपीदं मनोवल्लभ-मानुषस्य विरहे ।

नरके नैरथिकस्येवोत्पद्यते दारुणं दुःखम् ॥२३६॥

गुजराती अर्थ—

हं पण जाणु छुं के मनो-वाञ्छित मनुष्य ना विरह मां नरक मां दहेला नारकीओ जेवु दुःख उत्पन्न थाय छे।

हिन्दी अनुवाद—

मैं भी जानता हूँ कि मनोवाञ्छित मनुष्य के विरह में नरक में रहे नारकी के जैसा दुःख उत्पन्न होता है।

गाहा—

तद्वि हु न होइ जुत्तो अप्प-वहो किंतु कोवि हु उवाओ ।

चिंतेयव्वो जह सा पाविज्जइ हियय-वल्लहिया ॥२३७॥

संस्कृत छाया—

तथापि खलु न भवति युक्त आत्मवधः किन्तु कोऽपि खलुपायः ।

चिन्तितव्यो यथा सा प्राप्यते हृदयवल्लभिका ॥२३७॥

गुजराती अर्थ—

तो पण निश्चये आत्मवध तो योग्य ज नथी परंतु हृदयवल्लभानी जे
रीते प्राप्ति थाय ते प्रमाणे साचे ज उपाय विचारवो जोईस।

हिन्दी अनुवाद—

फिर भी निश्चित ही आत्मवध योग्य नहीं है, किन्तु प्राणप्रिया की जिस
तरह प्राप्ति हो वैसा उपाय वास्तव में सोचना चाहिए।

गाहा—

भो सुष्यङ्गु! एवं वज्जरिए तेण चित्तगङ्गणा ओ ।

दीहं नीससिऊणं एवं हि मए समुल्लवियं ॥२३८॥

संस्कृत छाया—

भोः सुप्रतिष्ठ! एवं कथिते तेन चित्रगतिना ओ१।

दीर्घ निःश्वस्यैवं हि मया समुल्लपितम् ॥२३८॥

गुजराती अर्थ—

हे सुप्रतिष्ठ! ते चित्रगति वड़े आ प्रमाणे कहाये छते दीर्घ नीसासो
लई ने मे आ प्रमाणे कहयुं ।

हिन्दी अनुवाद—

हे सुप्रतिष्ठ! उस चित्रगति के इस प्रकार कहने पर दीर्घ निःश्वास लेकर
मैंने इस प्रकार कहा—

गाहा—

वोलीणा तीइ कहा न हु इण्डं अत्थि कोवि उवाओ ।

अज्जेव य रयणीए जं होही तीइ वीवाहो ॥२३९॥

संस्कृत छाया—

गता तस्याः कथा, न खल्विदानीमस्ति कोऽप्युपायः ।

अद्यैव च रजन्यां यद् भविष्यति तस्या विवाहः ॥२३९॥

गुजराती अर्थ—

हवे तेणीनी वात गई हवे कोई ज उपाय नथी. आज्जे ज चात्री मां तेणीनो
विवाह थवानो छे।

हिन्दी अनुवाद—

अब उसकी बात पूर्ण हो गई है। अब कोई उपाय नहीं है। आज ही रात्रि में उसका विवाह होने वाला है।

गाहा—

चित्तगई भणइ तओ एक्कोवि य तीए पावणोवाओ ।

मह फुरइ माणसम्मी जइ तुह पडिहासए सुयणु! ॥२४०॥

संस्कृत छाया—

चित्रगतिर्भणति तत एकोऽपि च तस्याः प्रापणोपायः ।

मम स्फुरति मानसे यदि ते प्रतिभासते सुतनो! ॥२४०॥

गुजराती अर्थ—

त्याएपछी चित्रगति कहे छे! हे सुतनो! माया मनमां तेणीने मेळववानो एक उपाय स्फुरायमान थाय छे. सुंदर!

हिन्दी अनुवाद—

बाद में चित्रगति कहता है— हे सुतनु! यदि तुझे पसंद आये तो मेरे मन में उसकी प्राप्ति के लिए एक उपाय स्फुरित हो रहा है।

गाहा—

भणियं च मए को सो? ततो सो भणइ भद्र! निसुणोसु ।

किल एसो कुलायारो दक्खिण-सेठीए खयरारण ॥२४१॥

संस्कृत छाया—

चित्रगतितुं कपट

भणितं च मया कः स? ततः स भणति भद्र! निश्रुणु ।

किलैष कुलाचारो दक्षिणश्रेण्यां खचराणाम् ॥२४१॥

गुजराती अर्थ—

त्याटे में कहयुं कयो ते उपाय छे? त्याए पछी तेणे कहयुं हे भद्र! सांभळ! खरेएवर दक्षिण श्रेणी मां रहेता विधाधरोनो नो आ स कुलाचार छे!

हिन्दी अनुवाद—

तब मैंने कहा— वह कौन-सा उपाय है? अतः उसने कहा हे! भद्र! सुन, दक्षिणश्रेणि में रहते विधाधरों का यह एक कुलाचार है।

गाहा—

कत्रा विवाह-समए एकल्ला पूयए कुसुमबाणं ।

निय-कुल-कमागयं अह परिणिज्जइ सा तओ पच्छा ॥२४२॥

संस्कृत छाया—

कन्या विवाह-समये एका पूजयति कुसुमबाणम् ।

निजकुलक्रमागतमथ परिणयति सा ततः पश्चात् ॥२४२॥

गुजराती अर्थ—

पोताना कुलक्रमथी आवेला आचार प्रमाणे विवाह समये कन्या एकली ज कामदेवनी पूजा करे छे अने त्याच पछी ज लग्न करे छे।

हिन्दी अनुवाद—

अपने कुलक्रम से आये आचार का पालन करती कन्या विवाह के वक्त अकेली ही कामदेव की पूजा करती है और बाद में ही शादी करती है।

गाहा—

तं कममणुपालिंती सा एही मयण-पूयण-निमित्तं ।

अम्हे पुण दोवि जणा पुवं चिय इत्थ पविसामो ॥२४३॥

संस्कृत छाया—

तं क्रममनुपालयन्ती सा एष्यति मदनपूजननिमित्तम् ।

आवां पुनर्द्वाविपि जनौ पूर्वमेवाऽत्र प्रविशावः ॥३४३॥

गुजराती अर्थ—

ते कुलाचारनुं पालन करती कामदेवनी पूजा ने माटे आवशे, वळी आपणे बन्ने पहिले थी ज अहीं मन्दिर मां प्रवेशीं (छुपाई) जईस।

हिन्दी अनुवाद—

उस कुलाचार का अनुकरण करती हुई कन्या मदन पूजा के लिए आयेगी अतः हम दोनों पहले से ही मन्दिर में प्रवेश करें।

गाहा—

अह तीए आगयाए नेवत्थं तीए संतयं अहयं ।

धित्तुण इत्थि-रूवो गच्छिस्सं वरय-पासम्मि ॥२४४॥

संस्कृत छाया-

अथ तस्या-मागतायां नेपथ्यं तस्याः सत्कमहम् ।

गृहीत्वा स्त्रीरूपो गमिष्यामि वरपार्श्वे ॥२४४॥

गुजराती अर्थ-

पछी तेणी आवे छते तेणीनां वस्त्रादि ने हुं ग्रहण करीने स्त्रीरूपे हुं
वरनी पासै जईश।

हिन्दी अनुवाद-

फिर उसके आने पर उनकी पोशाक लेकर स्त्रीरूप में मैं वर के पास
जाऊंगा।

गाहा-

धित्तूण कणगमालं तं पुण नासिज्ज तक्खणा चेव ।

अहयंपि उपाएणं नासिस्सं लब्ध-पत्थावो ॥२४५॥

संस्कृत छाया-

गृहीत्वा कनकमालां तां पुनर्नश्येः तत्क्षणादेव ।

अहमप्युपायेन नक्ष्यामि लब्ध-प्रस्तावः ॥२४५॥

गुजराती अर्थ-

तुं कनकमालाने लईने ते ज क्षणे त्यांथी भागी जजे-अने हुं पण कोई
पण उपायवडे मेळवेला अवसरवाळो भागी जईश।

हिन्दी अनुवाद-

तुम कनकमाला को लेकर उसी क्षण भाग जाना, और मैं भी कोई उपाय
द्वारा अवसर आने पर भाग जाऊंगा।

गाहा-

एवं हि कए तीए संपत्ती अत्थि, नन्नहा भद! ।

तह देवयाए वयणं होज्जा एवं च सच्चंति ॥२४६॥

संस्कृत छाया-

एवं हि कृते तस्याः सम्प्राप्तिरस्ति नान्यथा भद्र! ।

तथा देवताया वचनं भवेदेवं च सत्यमिति ॥२४६॥

गुजराती अर्थ—

हे भद्र! आ प्रमाणे करे छते तेणीनी प्राप्ति थरो अन्यथा नही, अने आम करवा थी देवतानु वचन पण सत्य थाय।

हिन्दी अनुवाद—

हे भद्र! इस प्रकार से करने पर तुझे उसकी प्राप्ति होगी, अन्यथा ऐसा करने से देवताओं का भी वचन सत्य होगा।

गाहा—

किंच।

पुरिसेण पुरिसयारो कायव्वो ताव इच्छियत्थम्मि ।

विहिणो निओगओ पुण हवइ हु कज्जस्स निष्फत्ती ॥२४७॥

संस्कृत छाया—

किञ्च, पुरुषेण पुरुषकारः कर्तव्य तावदिष्टार्थे ।

विधेर्नियोगतः पुनर्भवति खलु कार्यस्य निष्पत्तिः ॥२४७॥

गुजराती अर्थ—

परन्तु

इच्छित नी प्राप्ति माटे पुरुषे पुरुषार्थ करवो जोइए. त्याए पछी कार्यनी सिद्धि निश्चे कर्मानुसार थाय छे।

हिन्दी अनुवाद—

किन्तु इच्छित की प्राप्ति के लिए पुरुष को पुरुषार्थ करना चाहिए। बाद में विधि योग से कार्य की सिद्धि होती है।

गाहा—

एवं च तेण कहिए उचिए उवाए आगामियं गरुय-दुक्खमचिंतिऊणं ।

भो सुप्पइडु! वयणं षडिवन्नयं से तिव्वानुराग-परिमोहिय-माणसेण ।२४८।

संस्कृत छाया—

एवं च तेन कथिते उचिते उपाये, आगामिकं गुरुदुःखमचिन्तयित्वा ।

भोः सुप्रतिष्ठ! वचनं प्रतिपन्नं तस्य तीव्रानुराग-परिमोहित-मानसेन ॥२४८

गुजराती अर्थ—

हे सुप्रतिष्ठ! आ प्रमाणे तेना वडे उचित उपाय कहेवाये छते भाविना
भाटे दुःखनो विचार कर्या वगए तीव्र अनुराग थी मोहित थयेला मन वडे
में तेनु वचन स्वीकार्यु।

हिन्दी अनुवाद—

हे सुप्रतिष्ठ! इस प्रकार उसके द्वारा उचित उपाय कहने पर भविष्य के दुःख
को सोचे बिना तीव्र अनुराग से मोहित हुए मैंने उसका वचन स्वीकारा।

गाहा—

साहु-धणेशर-विरइय-सुबोह-गाहा-समूह-रम्माए ।
रागगिग-दोस-विसहर-पसमण-जल-मंत-भूयाए ॥ २४९ ॥
एसोवि कणगमाला-पावण-उवएस-सूयगो भणिओ ।
सुरसुंदरी-कहाए पंचमओ वरं परिच्छेओ ॥ २५० ॥

संस्कृत छाया—

साधु धनेश्वर-विरचित-सुबोधगाथा-समूह-रम्यायाम् ।
रागाग्निदोस(द्वेष)-विषधरप्रशमन-जलमन्त्रभूतायाम् ॥ २४९ ॥
एषोऽपि कनकमाला-प्रापणोपदेश-सूचको भणितः ।
सुरसुन्दरी-कथायाम् पञ्चमो वरं परिच्छेदः ॥ २५० ॥

॥ पञ्चमः परिच्छेदः समाप्तः ॥

गुजराती अर्थ—

साधु धनेश्वरे रचेलु सायबोध वाली गाथाना समूहथी मनोहर, राग
रूपी आग अने द्वेष रूपी साप ने शांत करवा माटे जल अने मंत्र समान,
रवो आ कनकमालानी प्राप्तिना उपदेश सूचक सुरसुंदरी कथानो
पांचमो परिच्छेद सायी छीते कहेवायो।

हिन्दी अनुवाद—

साधु धनेश्वर द्वारा रचित सुबोध गाथा के समूह से मनोहर राग रूपी आग
और द्वेष रूपी साँप को शांत करने के लिए जल और मंत्र समान ऐसा यह
कनकमाला की प्राप्ति का उपदेश सूचक सुरसुंदरी कथा का पांचवा परिच्छेद अच्छी
तरह कहा गया।

॥ पाँचवाँ परिच्छेद समाप्त ॥



Our Publications

Revised Price

1. A Critical Study of Bhakti Rasamrit Sindhu by Rita Banerjee, 2008 Rs. 300.00
2. Neo-Vedanta and Modernity by Dr. Bithika Mukherjee, 2008 Rs. 250.00
3. Digambara Jain Iconography by James Burgess, Ed. R.P. Hingorani Rs. 60.00
4. Fresh Light on Indo-European Classification & Chronology by Prof. Dr. Satya Swarup Mishra Rs. 150.00
5. The Philosophy of Ancient India by Richard Garbe, Ed. K.N. Mishra Rs. 100.00
6. The Luwian Language, A Historical and Comparative Grammar by Prof. Satya Swarup Mishra Rs. 100.00
7. A Historical Grammar of Ardhamagadhi by Prof. Dr. S.S. Mishra & Dr. (Mrs.) H. Mishra Rs. 250.00
8. Grace in Saiva Siddhanta (A study of Tiruvarutpayan) by Dr. Rama Rs. 250.00
9. The Palaic Language, A Historical and Comparative Grammer, by Prof. Satya Swarup Mishra Rs. 50.00
10. The Hieroglyphic Hittite, A Historical and Comparative Grammar by Prof. Satya Swarup Misra Rs. 200.00
11. Sound Synthesis in Indo-European, Indo-Iranian and Sanskrit (History of Sanskrit Sandhi) by Prof. Dr. Satya Swarup Mishra Rs. 100.00
12. Historical Grammar of the Hindi Language by Haripriya Mishra Rs. 170.00
13. The Old Indo-Aryan, A Historical and Comparative Grammar Vol. I, II-I set by Prof. Dr. Staya Swarup Mishra Rs. 1000.00
१४. पौराणिक राजर्षि वंश वर्णन समीक्षा ले०डॉ० श्री कृष्णमणि त्रिपाठी Rs. 150.00
१५. अनुसंधान और स्थापनायें ले०डॉ० श्यामानन्द प्रसाद Rs. 100.00
१६. आधुनिक कविता के बदलते प्रतिमान ले०डॉ० श्रीनिवास पाण्डेय Rs. 150.00

Publisher

Ashutosh Prakashan Sansthan

B 30/195, Ganga Trang

Nagava, Lanka, Varanasi-5 (India)

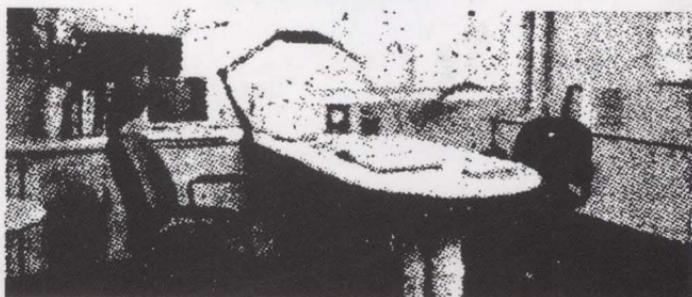
Ph.: 0542-2366957, Mo.: 09453396317

E-mail: ashutoshprakashansansthan@gmail.com

E-mail: ashutoshprakashansansthan@yahoo.com



NO PLY, NO BOARD, NO WOOD



ONLY NUWUD[®]

INTERNATIONALLY ACCLAIMED

Nuwud MDF is fast replacing ply, board and wood in offices, homes & industry, As ceilings

DESIGN FLEXIBILITY

flooring furniture, mouldings, panelling, doors, windows... and almost infinite variety of

VALUE FOR MONEY

*woodwork. So, if you have woodwork in mind, just think **NUWUD MDF***



The one wood for all your woodwork

Registered Head Office :

20/6, Mahura Road,
Faridabad-121006,
HARYANA.

Tel: +91 129 230400~6,
Fax: +91 129 5061037.

6-12408



Marketing Offices

Ahmedabad : 502, Anand Mangal, Complex-1, Behind Omkar House, Near Swastika Charrasta, C.G Road, Ahmedabad-380009. Tel: 079-30958929, 31028976, Fax: 079-26466585. **Bangalore** : D 1/4, Hayes Court, 11/9 Hayes Road, Richmond Town, Bangalore. Tel: 080-30958040, 22279219, Fax: 080-22279219. **Delhi/UP** : E-46/12, Okhala Industrial Area, Phase II, New Delhi-110020. Tel: 011-26385737, 26383234, 26384656, Fax: 011-41611846. **Chennai** : Tyagraj Complex, No. 583, (New No. 250), 4A, 4th Floor, Poonamallee High Road, Kilpauk, Chennai-600010. Tel: 044-30970880, Fax: 044-25323731. **Hyderabad** : A-3, View Towers, 6-2-1, Lakadi Ka Pul, Hyderabad-560904. Tel: 040-30935561, 23307604, 23314794, **Kerala** : 33/1560-G, Chakkaraparampu Road, Vennala (P.O.), Engakulam, Kochi-682028 Tel: 0484-3969454, 3969452, **Jalandhar** : 29, G.T. Road, Kalra Building, Jalandhar-144001, Tel: 09316039144, 09347203593. **Jaipur** : 42, Dhuleshwar Garden, 1st floor, Near Ajmer Road, Jaipur-302001. Tel: 014 1-3028940, 270557, Fax: 0141-2214727. **Mumbai** : Shive Centre Office No. 214, 2nd Floor, Plot No. 72, Sec-17, Vashi Navi, Mumbai-400705. Tel: 022-39436667, 25002250, Fax: 022-25002250. **Pune** : 209, 2nd floor, Ashoka Mall, Opp. Hotel Sun N Sand, Bundgarden Road, Pune-411001. Tel: 020-39505076, 6121353, Fax: 020-26121353.